यु ग चि त्र

[आज के कठोर वस्तुवादी जगत में नर्तन करने वाली पीड़ित मानवता का मनोवैज्ञानिक विश्लेषण]

लेखक
लक्ष्मीचन्द्र वाजपेयी

सम्पादक
श्री अम्बिकाप्रसाद मिश्र

प्रकाशक
छात्रहितकारी पुस्तकमाला
दारागंज, प्रयाग।

प्रथम संस्करण] १९४६ [मूल्य २॥)

समर्पण

अ० भा० हिन्दी साहित्य सम्मेलन के

भूतपूर्व सभापति

एवं

प्रयाग विश्वविद्यालय के वाइस चान्सलर

डाक्टर अमरनाथ झा को

सादर सस्नेह

समर्पित

लक्ष्मी चन्द्र वार्ष्णेय

प्रस्तावना

नए युग की हिन्दी कहानियों के सम्बन्ध में दो बातें बड़े विश्वास के साथ, बहुत ही निर्विवाद रूप में, कही जाती हैं। एक यह कि ये कहानियाँ आधुनिक पश्चिमी कहानियों से प्रभावित हैं और उन्हीं के आधार पर लिखी जा रही हैं। दूसरी यह कि इन कहानियों का प्राचीन भारतीय कथा-साहित्य से कोई क्रमागत संबंध नहीं है। किन्तु मुझे ये दोनों ही बातें सुविचारित नहीं जान पड़तीं और सहसा यह मान लेने का कोई कारण नहीं दीखता कि नई हिन्दी कहानियों की कोई स्वतंत्र सत्ता नहीं है अथवा प्राचीन कथा-साहित्य से इनका कोई तात्विक साम्य नहीं है।

आरंभ में ही यह स्पष्ट कर देना आवश्यक है कि मेरा यह मत देश-प्रेम की किसी संकीर्ण भावना से प्रेरित होकर नहीं बनाया गया, न इसके मूल में प्राचीन-प्रियता की कोई अहेतुक धारणा ही है। साहित्यिक इतिहास के सभी विद्यार्थी यह जानते हैं कि प्राचीन भारतीय कहानियाँ अपने समय के सभ्य संसार में कितना प्रभाव रखती थीं और उनका कितना ऋण संसार के कथा-साहित्य पर है। यदि आज हिन्दी कहानियाँ पश्चिम से प्रेरणा ले रही हैं तो यह पूर्ववर्ती ऋण का शोध ही माना जायगा। ऐसी अवस्था में हम बिना किसी हिचक के वास्तविक स्थिति का उल्लेख कर सकते हैं।

इन नई कहानियों का प्राचीन कहानियों से असंबद्ध होना भी सिद्ध नहीं होता, यद्यपि विषय, शैली और उद्देश्य आदि में पर्याप्त परिवर्तन हो गया है। यह परिवर्तन तो परिस्थिति का परिणाम है, स्वाभाविक विकास का सूचक है। भारत ही नहीं संसार के अन्य देशों के प्राचीन और नवीन कथा-साहित्य के बीच भी यही अंतर दिखाई देता है। किन्तु उसे परंपरा का टूटना या तात्विक संबंध-विच्छेद नहीं कहा जा सकता।

फिर भी यदि कोई कहे कि आधुनिक कहानी, वह भारत की हो या किसी अन्य देश की, प्राचीन कहानी से मूलतः भिन्न सृष्टि है, तो इसके लिए अधिक विश्वसनीय प्रमाणों की आवश्यकता होगी।

हिन्दी कहानीके वर्तमान विकास पर दृष्टि डालते ही 'नासिकेतोपाख्यान' और 'रानी केतकी की कहानी' जैसी रचनाएं सामने आती हैं जो अपने नाम से ही पुरानेपन की सूचना देती हैं। चमत्कारपूर्ण और विस्मयोद्बोधक प्रणाली से किसी उपदेश-विशेष की योजना अथवा किसी मार्मिक जीवन-वृत्त का उल्लेख पुरानी कथाओं की विशेषता थी। इनके अतिरिक्त कहानी की तीसरी शैली वह थी जिसमें काल्पनिक घटनावली का मुख्य आकर्षण रहता था, मार्मिकता या उपदेश की योजना भी नहीं होती थी। इस प्रकार की कहानियाँ नव वय के बालकों के लिए अधिक उपयुक्त होती थीं और इनमें राक्षसों या परियों की प्रधानता रहती थी।

ऊपर उल्लेख की गई दोनों कहानियों में यही प्राचीन कथा-शैली पाई जाती है। संपूर्ण जीवन-वृत्त को संक्षेप में उपस्थित करने का प्रयत्न पाया जाता है। समय, स्थान और वस्तु के चयन का, बाह्य जीवन की किसी स्थितिविशेष अथवा आंतरिक जीवन की किसी वृत्ति-विशेष या रहस्यविशेष के उद्घाटन का प्रयास इन कहानियों में लक्षित नहीं होता। संपूर्ण जीवन अपनी स्थूलता में जिन तथ्यों को अभिव्यक्त करता है, उन्हें छोड़ कर उसके विभिन्न अंगों, परिस्थितियों और पहलुओं की ओर ध्यान नहीं गया। कहानी के भीतर कथा-विकास के ही उपकरण न थे, कोरी वर्णनात्मक सामग्री भी जुड़ी हुई थी।

आगे चल कर भारतेन्दु हरिश्चन्द्र और उनके साथियों ने संपूर्ण जीवन-चर्या का पल्ला छोड़ कर उसके प्रसंगों और प्रकीर्णक अंशों को अपनाया और उन्हें पृथक् वस्तु के रूप में स्वतंत्र सत्ता देकर या तो निबंध या निबंधात्मक कहानियाँ लिखीं जो विस्मयात्मक और उपदेशात्मक उपकरणों के अतिरिक्त विनोद और व्यंग्य की विशेषताएं भी रखती

हैं। इनका आकार आधुनिक कहानी के उपयुक्त है और इनमें अनावश्यक वस्तु-विस्तार भी नहीं है। 'कथा' में जो प्राचीन इतिवृत्त के ग्रहण की परिपाटी थी उसके स्थान पर सामयिक जीवन की कल्पित 'कहानी' का उदय हो चला। भूत के स्थान पर वर्तमान काल का प्रयोग भारतेन्दु-युग की हिन्दी कहानी में ही प्रथम बार हुआ। यहीं से हिन्दी कहानी के नवीन स्वरूप का आरंभ होता है।

इस समय तक आधुनिक पाश्चात्य कहानी भी अपना निर्माण कर चुकी थी। हम कह सकते हैं कि वह भारतेन्दु-युग की कहानियों की अपेक्षा कहीं अधिक कलापूर्ण और विकसित भी थी। कहानी के लिए सब से आवश्यक वस्तु है घटना-संवलित कथानक का ऐसा प्रसार जो अपनी सीमा में एक प्रभावशाली और असाधारण जीवन-मर्म को पूरा-पूरा व्यक्त कर दे। ताने और बाने की भाँति कथा और जीवन-मर्म का एक ही में पर्यवसान हो जाना चाहिए। किसी ओर से असंगति हेर-फेर या क्रम-भंग के लिए स्थान न रहे। साथ ही सारी कहानी किसी निर्णायक घटना-केन्द्र की ओर अनुधावित हो रही हो।

जीवन-मर्म या उद्देश्य ही कहानी का प्राण है और कथानक ही प्राण-स्थापक शरीर है, इसके अतिरिक्त कोई तीसरा तत्व कहानी के लिए अपेक्षित नहीं। वर्तमान कहानी जीवन-मर्म की प्रभावशाली व्यंजना के लिए एक अन्य तत्व की भी आकांक्षा रखती है—समय और स्थान के संकलन की। किन्तु इस प्रकार तो कहानी-कला के कुछ अन्य अंग भी आवश्यक होंगे जैसे देश, काल, पात्र आदि। किन्तु जहाँ तक मूल तत्वों का सम्बन्ध है वस्तु और उद्देश्य ही कहानी के साधन-साध्य हैं। इस दृष्टि से देखने पर प्राचीन युग से कहानियों का यही स्वरूप रहा है, यद्यपि शैली और विन्यास में बहुत से समयानुकूल परिवर्तन हो गए हैं।

वस्तु-चयन की दृष्टि से आज की कहानी वास्तविकता का अधिक सच्चा आभास देती है। पुरानी कहानी उद्देश्य को प्रमुख मानकर विस्मय-जनक कथानक के सहारे अपनी उद्देश्य-व्यञ्जना कर देती थी—उपदेश दे डालती थी; किन्तु नवीन कहानी शैली, वस्तु या साधन को सजाने में अधिक व्यस्त रहती है, यद्यपि ऐसा करने में साध्य का ध्यान छूटता नहीं। सच तो यह है कि वर्तमान कहानी अधिक कलापूर्ण और विश्व-सनीय रूप में अपना कार्य पूरा करती है।

वर्तमान कहानी का क्षेत्र भी अधिक व्यापक हो गया है। प्राचीन कहानी प्रायः नीति, व्यवहार और मनोविज्ञान के मोटे रहस्यों को कथा-त्मक पद्धति से व्यक्त करती थी और ऐसा करते हुए किसी न किसी अनुरंजक या विस्मयोद्बोधक कथानक को चुन लेती थी। अन्योक्ति की सी पद्धति रहा करती थी। किन्तु नवीन कहानी साध्य को साधक से—उद्देश्य को कथानक से—एकदम अभिन्न बनाकर चलती है और कभी-कभी तो जीवन-घटना ही, कहानी की वस्तु ही, अपना साध्य आप बन जाती है। घटना के मर्म में ही उद्देश्य छिपा रहता है।

मूल-तत्त्वों की कमी के कारण—केवल वस्तु और उद्देश्य के ताने-बाने को एक में मिलाकर कहानी तैयार कर देने की सुविधा के कारण—शैली के प्रसाधन, जीवन-मर्म की महत्वपूर्ण योजना, और इन दोनों के पारस्परिक सामंजस्य की ओर कहानी-लेखक पूरा ध्यान दिया करता है। वह किसी दैनिक जीवन की घटना और दृश्य को अपने कार्य के लिए अधिक उपयोगी समझता है क्योंकि उससे यथार्थ की अनुभूति अधिक सरलता से हो सकती है, किन्तु कभी कभी असाधारण घटना या संभावित कथानक की योजना भी कहानी-लेखक कर सकता है।

यह तो हुई वस्तु या कथानक की बात, उद्देश्य या जीवन-मर्म की अभिव्यक्ति में कहानी-लेखक का वास्तविक उत्तरदायित्व और उसकी क्षमता प्रकट होती है। दैनिक घटना को लेकर यदि नित्य प्रति का कोई दृश्य ही दिखा दिया गया, अथवा किसी ऐसे तथ्य को उपस्थित

कर दिया गया जिसमें न कोई सूक्ष्म-दर्शिता है, न कोई तल-स्पर्शी प्रयोजन, तो ऐसी कहानी यथार्थ भले ही हो, श्रेष्ठ और स्मरणीय कदापि न होगी। जीवन-तत्वों की जितनी सूक्ष्म और असाधारण पहचान कहानी-लेखक को होगी उसकी कला का उतना ही अधिक मूल्य होगा।

सूक्ष्मदर्शिता, अनुभव और विवेक की व्यापकता और विशालता प्राचीन समय से ही कहानीकार के साधन-संबल रहे हैं। निरर्थक या स्वल्पार्थक कहानी बहुत दिनों तक जीवित नहीं रह सकती। यही कारण है कि आज की कहानियों की बाढ़ में स्थायी और स्मरणीय सामग्री थोड़ी ही है। बहुत से नवसिखिए लेखक बिना किसी अनुभव या बहुज्ञता के, प्रेम-कहानियों के क्षेत्र में कलम चलाया करते हैं, इससे कहानियों के प्रति विवेकवान व्यक्तियों की श्रद्धा घट जाय तो आश्चर्य क्या है!

अनुभव और विवेक के संबंध में कुछ अन्य बातें भी उल्लेखनीय हैं; अनुभव अनेक क्षेत्रों का और अनेक श्रेणियों का हो सकता है, विवेक भी रुचि और योग्यता के अनुसार अनेक कोटियों का होता है। कहानियों में हम वर्तमान समय और समाज के अनुभवों को ही विशेष रूप से स्थान दे सकते हैं अथवा ऐसे अनुभवों को स्थापित कर सकते हैं जो मनुष्य की स्थायी विशेषताओं और प्रवृत्तियों के लिए उपयोगी हैं। जिन कहानियों का आधार जितना ही व्यापक और सार्वजनिक अनुभव होगा, उनमें उतनी ही अधिक सांकेतिकता होगी और मानव-हृदय को वह उतना ही अधिक स्पर्श करेगा।

इसी प्रकार हमारे अनुभव का क्षेत्र मनुष्य की सद्वासनाएँ या सुप्रवृत्तियाँ भी हो सकती हैं और असद्वासनाएँ या कुप्रवृत्तियाँ भी। परिस्थिति भेद से मनुष्य की मनोभावनाएँ भी भिन्न भिन्न स्वरूप धारण करती हैं। इन सूक्ष्म भेदों का परिदर्शन भी कहानियों का विषय बन सकता है। परिस्थिति और मनोविज्ञान का चित्रण करने वाली कहानियाँ इसी अधार पर लिखी जाती हैं। ज्ञान तो प्रत्येक क्षेत्र में एक-रस

है किन्तु जीवन के असदंशों या परिस्थिति के वैचित्र्यों पर बहुत अधिक ज्ञान-प्रदर्शन संभवतः अधिक उपयोगी न होगा।

ज्ञान के लिए ज्ञान या अनुभव भारतीय दृष्टि में कभी श्रेष्ठ स्थान नहीं पा सका। ज्ञान का भी कुछ आदर्श या उद्देश्य होना ही चाहिये। इसलिए भारतीय दर्शनों में ज्ञान का भी परिणाम मुक्ति या आनन्द ठहराया गया है। भारतीय कहानियाँ बहुत अधिक मनोवैज्ञानिक चर्या अथवा परिस्थिति-चित्रण में—यथार्थवादी सृष्टि में—रुचि नहीं रखतीं। अतएव हिन्दी कहानियों में पाश्चात्य कहानियों की अपेक्षा वस्तुस्थिति या यथार्थ को छोड़ कर आदर्श-स्थापना का प्रयास अधिक रहा है, यद्यपि वास्तविकता की अवहेलना करके नहीं।

कहानियों के क्षेत्र में दूसरी भारतीय प्रवृत्ति यह रही है कि उसमें कोरे कल्पनात्मक अनुरंजन की अपेक्षा व्यावहारिक ज्ञान का अधिक संनिवेश हुआ है। 'सहस्र रजनी चरित्र' की सी काल्पनिकता भारतीय कहानियों में कम देखी जाती है। तिलस्म या जासूसी प्रवृत्ति का प्रायः हमारी कहानियों में अभाव रहा है। इसके स्थान पर सांसारिक अनुभवों का अधिक उपयोग उनमें किया गया है। भारतीय कहानीकारों ने प्रेम-चर्या तथा कल्पना-क्षेत्र में रमण की अपेक्षा विवेकपूर्ण जीवनानुभव को कहानियों में अधिक स्थान दिया है।

मोटे तौर पर कहानी के कथानक और उसके उद्देश्य पर ऊपर की बातें कहने के पश्चात् दोनों के सामंजस्य के प्रश्न को लीजिए। ताने-बाने की भांति दोनों का एकरूप होना आवश्यक है, यह उल्लेख ऊपर किया जा चुका है। वास्तव में कहानी की वस्तु या कथा और उसके उद्देश्य या जीवन-मर्म के सामंजस्य का अर्थ है दोनों की पृथक सत्ता का लोप हो जाना। कहानी अपने में पूर्ण हो और जीवन-मर्म भी अपने में पूर्ण हो। अथवा कहानी ही जीवन-चित्र और जीवन-चित्र ही कहानी बन जाय। दोनों का अंतर जितना ही अप्रत्यक्ष

होगा, कहानी उतनी ही सफल मानी जायगी। उसका प्रभाव उतना ही स्थायी होगा।

वस्तु और उद्देश्य के इसी अभेद के कारण कहानी की व्याख्या 'अर्थ पूर्ण कथानक' कह कर भी की जा सकती है। इस प्रकार कथानक ही कहानी का एक मात्र आधार रह जाता है और इसी कारण कतिपय समीक्षक कहानी को 'अनुरंजक आख्यान' भी कहा करते हैं। इस प्रकार कहानी में रूप, शरीर या शैली की ही विशेषता परिलक्षित होती है। तभी कहानी-लेखक अपनी कथा को सजाने में, उसे चित्र की भांति रूपों-रङ्गों से इस प्रकार सुसज्जित कर देने में कि वह अपने मर्म की व्यंजना आप ही कर सके, अपनी सारी शक्ति लगा देते हैं। जिस प्रकार चित्र में सारा खेल रेखाओं और रङ्गों का ही होता है, सारा प्रभाव साधनों पर ही अवलम्बित रहता है, उसी प्रकार श्रेष्ठ कहानी में व्यंजक और व्यंग्य का—कथा और उद्देश्य का—एकीकरण हो जाता है।

किन्तु कभी-कभी कुछ कहानियाँ उद्देश्य की इतनी प्रमुखता लेकर लिखी जाती हैं कि साध्य और साधन की समरूपता हो ही नहीं पाती। उद्देश्य अलग और कथानक अलग मारा फिरता है। ऐसे लेखकों को कहानी कला का पल्ला छोड़ कर निबन्ध-लेखन का अभ्यास करना चाहिए। इसी प्रकार जो लेखक उद्देश्य की कुछ भी चिन्ता न कर कहानी के वेश-विन्यास में अथवा चरित्रों के उद्घाटन में या जीवन-दशाओं के चित्रण-मात्र नें अनुरक्ति रखते हैं उन्हें उपन्यास-कला की पगडंडी पकड़नी चाहिए।

अब संभवतः कहानी की रूप-रेखा थोड़ी-बहुत स्पष्ट हुई होगी, किन्तु देश-काल, चरित्र और कथा के संकलन सम्बन्धी उपाङ्गों की ओर भी दृष्टिपात कर लेना आवश्यक है। उपाङ्ग हम इन्हें इसलिए कहते हैं कि ये कहानी के अनिवार्य अङ्ग नहीं हैं और केवल साधन-रूप में, वास्तविकता का रङ्ग लाने के लिए, इनका उपयोग किया

है किन्तु जीवन के असदंशों या परिस्थिति के वैचित्र्यों पर बहुत अधिक ज्ञान-प्रदर्शन संभवतः अधिक उपयोगी न होगा।

ज्ञान के लिए ज्ञान या अनुभव भारतीय दृष्टि में कभी श्रेष्ठ स्थान नहीं पा सका। ज्ञान का भी कुछ आदर्श या उद्देश्य होना ही चाहिये। इसलिए भारतीय दर्शनों में ज्ञान का भी परिणाम मुक्ति या आनन्द ठहराया गया है। भारतीय कहानियाँ बहुत अधिक मनोवैज्ञानिक चर्या अथवा परिस्थिति-चित्रण में—यथार्थवादी सृष्टि में—रुचि नहीं रखतीं। अतएव हिन्दी कहानियों में पाश्चात्य कहानियों की अपेक्षा वस्तुस्थिति या यथार्थ को छोड़ कर आदर्श-स्थापना का प्रयास अधिक रहा है, यद्यपि वास्तविकता की अवहेलना करके नहीं।

कहानियों के क्षेत्र में दूसरी भारतीय प्रवृत्ति यह रही है कि उसमें कोरे कल्पनात्मक अनुरंजन की अपेक्षा व्यावहारिक ज्ञान का अधिक संनिवेश हुआ है। 'सहस्र रजनी चरित्र' की सी काल्पनिकता भारतीय कहानियों में कम देखी जाती है। तिलस्म या जासूसी प्रवृत्ति का प्रायः हमारी कहानियों में अभाव रहा है। इसके स्थान पर सांसारिक अनुभवों का अधिक उपयोग उनमें किया गया है। भारतीय कहानीकारों ने प्रेम-चर्या तथा कल्पना-क्षेत्र में रमण की अपेक्षा विवेकपूर्ण जीवनानुभव को कहानियों में अधिक स्थान दिया है।

मोटे तौर पर कहानी के कथानक और उसके उद्देश्य पर ऊपर की बातें कहने के पश्चात् दोनों के सामंजस्य के प्रश्न को लीजिए। ताने-बाने की भांति दोनों का एकरूप होना आवश्यक है, यह उल्लेख ऊपर किया जा चुका है। वास्तव में कहानी की वस्तु या कथा और उसके उद्देश्य या जीवन-मर्म के सामंजस्य का अर्थ है दोनों की पृथक सत्ता का लोप हो जाना। कहानी अपने में पूर्ण हो और जीवन-मर्म भी अपने में पूर्ण हो। अथवा कहानी ही जीवन-चित्र और जीवन-चित्र ही कहानी बन जाय। दोनों का अंतर जितना ही अप्रत्यक्ष

होगा, कहानी उतनी ही सफल मानी जायगी। उसका प्रभाव उतना ही स्थायी होगा।

वस्तु और उद्देश्य के इसी अभेद के कारण कहानी की व्याख्या 'अर्थ पूर्ण कथानक' कह कर भी की जा सकती है। इस प्रकार कथानक ही कहानी का एक मात्र आधार रह जाता है और इसी कारण कतिपय समीक्षक कहानी को 'अनुरंजक आख्यान' भी कहा करते हैं। इस प्रकार कहानी में रूप, शरीर या शैली की ही विशेषता परिलक्षित होती है। तभी कहानी-लेखक अपनी कथा को सजाने में, उसे चित्र की भांति रूपों-रङ्गों से इस प्रकार सुसज्जित कर देने में कि वह अपने मर्म की व्यंजना आप ही कर सके, अपनी सारी शक्ति लगा देते हैं। जिस प्रकार चित्र में सारा खेल रेखाओं और रङ्गों का ही होता है, सारा प्रभाव साधनों पर ही अवलम्बित रहता है, उसी प्रकार श्रेष्ठ कहानी में व्यंजक और व्यंग्य का—कथा और उद्देश्य का—एकीकरण हो जाता है।

किन्तु कभी-कभी कुछ कहानियाँ उद्देश्य की इतनी प्रमुखता लेकर लिखी जाती हैं कि साध्य और साधन की समरूपता हो ही नहीं पाती। उद्देश्य अलग और कथानक अलग मारा फिरता है। ऐसे लेखकों को कहानी कला का पल्ला छोड़ कर निबन्ध-लेखन का अभ्यास करना चाहिए। इसी प्रकार जो लेखक उद्देश्य की कुछ भी चिन्ता न कर कहानी के वेश-विन्यास में अथवा चरित्रों के उद्घाटन में या जीवन-दशाओं के चित्रण-मात्र में अनुरक्ति रखते हैं उन्हें उपन्यास-कला की पगडंडी पकड़नी चाहिए।

अब संभवतः कहानी की रूप-रेखा थोड़ी-बहुत स्पष्ट हुई होगी, किन्तु देश-काल, चरित्र और कथा के संकलन सम्बन्धी उपाङ्गों की ओर भी दृष्टिपात कर लेना आवश्यक है। उपाङ्ग हम इन्हें इसलिए कहते हैं कि ये कहानी के अनिवार्य अङ्ग नहीं हैं और केवल साधन-रूप में, वास्तविकता का रङ्ग लाने के लिए, इनका उपयोग किया

जाता है। प्राचीन कहानियों में इन तत्वों के लिए कोई स्थान न था और वर्तमान कहानी में भी ये गौण स्थान ही रखते हैं। इसीलिए मैंने आरम्भ में कहा भी है कि पुरानी कथा को आधुनिक कहानी से नितान्त पृथक् या विजातीय वस्तु नहीं माना जा सकता।

उपन्यास में देश-काल और चरित्र आते हैं साध्य बनकर, किन्तु कहानी में इतना स्थान कहाँ कि देश-काल और चरित्र की स्वतन्त्र व्याख्या की जा सके। वहाँ तो किसी असाधारण परिस्थिति में किसी असाधारण परिणाम की ओर जाने वाली घटनाएं और पात्र रहा करते हैं। कहानी में देश-काल का उपयोग उस चलित परिस्थिति की एक झाँकी दिखाने भर के लिए की जाती है और पात्र का उपयोग भी परिणाम का साक्षात्कार कराने के निमित्त ही हुआ करता है। इससे अधिक इनका कोई उपयोग कहानी में नहीं हो सकता, और अधिकतर तो इतना भी उपयोग उनका नहीं होता। प्रायः वास्तविकता का आलंकारिक 'भान' उपस्थित करने के लिए देश, काल और पात्र का विनियोग कहानियों में होता है।

कहानी सदैव परिणाम-प्रधान होती है और घटनाएं ही उसकी सम्बल हैं। इसलिए कहानी में घटनाओं का आधार तो होगा ही। कहानी में घटनाओं की योजना और उनका आकर्षण नाटक के ढङ्ग का होता है। कहानी इसीलिए गत्वर कला-सृष्टि है। उपन्यास में यह बात नहीं होती। नाटक की ही भाँति कहानी का मुख्य आकर्षण घटना-प्रगति ही है। इस कारण चरित्र प्रधान, देशकाल-प्रधान या कल्पना-प्रधान कहानी का नाम लेना कहानी सम्बन्धी तथ्य से दूर पहुँच जाना है। कहानी में प्रधान वह 'वस्तु' होती है जो आश्चर्य-कारक या असाधारण 'परिणाम' या 'प्रयोजन' की सिद्धि करती है।

इसी वस्तु-योजना को अधिक से अधिक प्रभावशाली बनाने के लिए कहानी में देश-काल-संकलन का प्रयोग किया जाता है। समस्त घटना परिणाम से सम्बद्ध और परिणाम की ओर अग्रसर होती है।

जाता है। प्राचीन कहानियों में इन तत्वों के लिए कोई स्थान न था और वर्तमान कहानी में भी ये गौण स्थान ही रखते हैं। इसीलिए मैंने आरम्भ में कहा भी है कि पुरानी कथा को आधुनिक कहानी से नितान्त पृथक् या विजातीय वस्तु नहीं माना जा सकता।

उपन्यास में देश-काल और चरित्र आते हैं साध्य बनकर, किन्तु कहानी में इतना स्थान कहाँ कि देश-काल और चरित्र की स्वतन्त्र व्याख्या की जा सके। वहाँ तो किसी असाधारण परिस्थिति में किसी असाधारण परिणाम की ओर जाने वाली घटनाएं और पात्र रहा करते हैं। कहानी में देश-काल का उपयोग उस चलित परिस्थिति की एक झाँकी दिखाने भर के लिए की जाती है और पात्र का उपयोग भी परिणाम का साक्षात्कार कराने के निमित्त ही हुआ करता है। इससे अधिक इनका कोई उपयोग कहानी में नहीं हो सकता, और अधिकतर तो इतना भी उपयोग उनका नहीं होता। प्रायः वास्तविकता का आलंकारिक 'भान' उपस्थित करने के लिए देश, काल और पात्र का विनियोग कहानियों में होता है।

कहानी सदैव परिणाम-प्रधान होती है और घटनाएं ही उसकी सम्बल हैं। इसलिए कहानी में घटनाओं का आधार तो होगा ही। कहानी में घटनाओं की योजना और उनका आकर्षण नाटक के ढङ्ग का होता है। कहानी इसीलिए गत्वर कला-सृष्टि है। उपन्यास में यह बात नहीं होती। नाटक की ही भाँति कहानी का मुख्य आकर्षण घटना-प्रगति ही है। इस कारण चरित्र प्रधान, देशकाल-प्रधान या कल्पना-प्रधान कहानी का नाम लेना कहानी सम्बन्धी तथ्य से दूर पहुँच जाना है। कहानी में प्रधान वह 'वस्तु' होती है जो आश्चर्य-कारक या असाधारण 'परिणाम' या 'प्रयोजन' की सिद्धि करती है।

इसी वस्तु-योजना को अधिक से अधिक प्रभावशाली बनाने के लिए कहानी में देश-काल-संकलन का प्रयोग किया जाता है। समस्त घटना परिणाम से सम्बद्ध और परिणाम की ओर अग्रसर होती है।

उसके उत्थान और अवसान के बीच समय और स्थान का मंथर विधान नहीं हो सकता। समय की बहुलता अथवा स्थानों की विविधता तभी आ सकती है जब कहानी की वस्तु समय और स्थान के ही आधार पर विकसित हो रही हो। किन्तु यह अपवाद स्वरूप कुछ ही कहानियों के लिए आवश्यक होगा कि कहानी का वस्तु-चित्र समय और स्थान के पायों पर खड़ा हो।

संक्षेप में आधुनिक कहानी की यही रूपरेखा है जो क्रमशः विकसित होकर पश्चिमी साहित्य में प्रतिष्ठित हुई है। भारतेन्दु के पश्चात् हिन्दी कहानियाँ भी इसी पथ पर चल पड़ीं। किन्तु उन कतिपय भेदों को छोड़ कर जो प्राचीन और नवीन कहानी के बीच घटित हुए थे, हिन्दी कहानी भी अपने मूल-स्वरूप से एकदम उच्छिन्न नहीं हुई। मैं तो कहूँगा कि हिन्दी कहानी अपनी प्राचीन उद्देश्य-प्रधान व्यावहारिक परम्परा के अधिक निकट रहती आई है और जब-जब उद्देश्य का विस्मरण हुआ है और कहानी अनिर्निष्ट उद्देश्य लेकर लिखी गई है तब-तब शैली और प्रभाव दोनों दृष्टियों से उसमें शिथिलता आई है। टाल्सटाय जैसे श्रेष्ठ विचारक और जीवन-द्रष्टा ही श्रेष्ठ कहानी-लेखक भी हुए हैं। यद्यपि ऐसे लेखकों की भी कमी नहीं है जो बड़े विचारक होते हुए भी कहानी-निर्माण के कार्य में उतने दक्ष नहीं सिद्ध हुए।

अंग्रेजी कहानियों का आरम्भ अंग्रेजी के उपन्यास-लेखकों ने ही किया था, इसलिए कहानी और उपन्यास के बीच का भेद बहुत दिनों तक अस्पष्ट ही रहा, किन्तु ज्योंही कहानी की स्वतंत्र-कला का आभास मिल गया, अंग्रेजी में भी 'विशुद्ध कहानी' का निर्माण होने लगा। कला की दृष्टि से आधुनिक पाश्चात्य कहानी के सर्वश्रेष्ठ निर्माता फ्रांसीसी मोपासां, अनातोले फ्रांस और रूसी तुर्गनेव, चेखब आदि लेखक हैं जिनकी कला मार्मिक और परिणामदर्शी जीवननांश को छांट-छांटकर प्रदर्शित करने में अत्यन्त कुशल है। ये सभी श्रेष्ठ कलाकार तो हैं ही, जीवन के प्रति इनकी अगाध आस्था है, साथ ही ये मनो-

विज्ञान और मानव व्यवहारों के पंडित हैं और इनमें से कुछ अपने युग के श्रेष्ठ विचारक भी हैं।

इन सब गुणों का एक साथ संनिवेश नवीन हिन्दी कहानी लेखकों में भले ही उस मात्रा में न हो जिसमें उक्त पाश्चात्य लेखकों में है, किन्तु दो बातें बहुत ही स्पष्ट हैं। एक यह कि हिन्दी में इन गुणों का विकास आशाप्रद है और यदि हिन्दी के पत्र तथा पाठक अनुवाद की चीजों को छोड़कर, और साथ ही 'सस्ती-सामग्री' का तिरस्कार कर निरन्तर एक विशिष्ट बौद्धिक स्तर की कलापूर्ण कहानियों का आग्रह करते रहें, और प्रेम-कहानियों का पिंड कुछ दिनों के लिए छोड़ दें तो हिन्दी कहानी फिर से भारतीय कहानियों की पुरातन कीर्ति प्राप्त कर सकती है। दूसरी बात यह कि हिन्दी कहानियों में स्वतंत्र कथा-शैली, स्वतन्त्र विचार-दृष्टि और स्वतन्त्र जीवन-चित्रण की सत्ता का अभाव नहीं है।

वर्तमान समय में, जब मशीन पद्धति पर काती और बुनी कहानियाँ विदेशों से आकर हम पर छापा मार रही हैं, और जब हिन्दी कहानी-लेखकों के सम्मुख प्रचुर परिमाण में आने वाली इस विदेशी वस्तु को हिन्दी साँचा देकर खपाने में विशेष कठिनाई नहीं है, तब हिन्दी कहानी-कार स्वतन्त्र साधना और स्वतन्त्र निर्माण के लिए क्यों और किस प्रकार उत्साहित हों? दूसरी ओर यह भी कहा जाता है कि संसार की मनुष्य जाति इस समय अपना पार्थक्य दूर कर, एक सी ही वस्तु स्थिति का सामना कर रही है। उसके सामने एक सा ही जीवन, एक सी ही समस्याएँ अतएव एक सा ही समाधान उपस्थित है। ऐसी अवस्था में हिन्दी कहानियों की स्वतन्त्र स्थिति को अवकाश कहाँ है और आवश्यकता भी क्या? एक ही प्रकार का प्रचार-कार्य संसार भर के कहानी-साहित्य को करना है, इस समय मौलिकता की माँग असामयिक और व्यर्थ है।

किन्तु मेरे विचार से इस प्रकार की धारणा एकदम निराधार और

भ्रामक ही नहीं, हिन्दी कहानी और साहित्यमात्र के लिए अतिशय हानिकारक भी है। संस्कृतियों का पोषण सदैव उनके मौलिक साहित्य से ही सम्भव है; आज के सांस्कृतिक विकास के लिए केवल प्रचारात्मक साहित्य से काम नहीं चल सकता। यदि आज मानव संस्कृतियाँ एक दूसरे के निकट सम्पर्क में आ रही हैं और यदि समान परिस्थितियाँ सभी राष्ट्रों के सामने उपस्थित हैं तो उन राष्ट्रों की सृजनात्मिका शक्ति के पूर्ण उन्मेष द्वारा ही वे एक दूसरे के हृदय के समीप आ सकते हैं। केवल बाहरी एकरूपता तो राजनीतिक या सामाजिक परिस्थितियाँ ला सकती हैं किन्तु सांस्कृतिक सम्मिलन और एकीकरण तो उनकी साहित्य सृष्टियों द्वारा ही घटित हो सकता है। राष्ट्रीय मनोभावों और जीवन-स्थितियों का प्रदर्शन उस राष्ट्र का साहित्य ही कर सकता है और तभी राष्ट्रीय संस्कृतियों का आदान-प्रदान और समन्वय भी सम्भव होगा। एक की नकल करके दूसरा राष्ट्र उसके प्रति अपना आदर-भाव नहीं प्रकट कर सकता, न नकल के द्वारा कोई दूसरी समस्या हल हो सकती है।

अनुकरण की वृत्ति ही असांस्कृतिक है और उससे राष्ट्रीय या अन्तर्राष्ट्रीय कोई भी प्रश्न नहीं सुलझ सकता। हिन्दी कहानियाँ इस 'सांस्कृतिक साम्य' की मरीचिका में न अब तक पड़ी हैं, और न तब तक पड़ेंगी जब तक उनमें जीवनशक्ति वर्तमान है। सांस्कृतिक समन्वय तो समान साहित्यिक उत्कर्ष का परिणाम है न कि साहित्यिक एकरूपता सांस्कृतिक साम्य का परिणाम। अतएव हिन्दी कहानी-लेखक अपने राष्ट्रीय अनुभव और प्रतिभा का उपयोग सदैव स्वतन्त्र-लेखन में ही करेंगे।

कहानी के क्षेत्र में अनुकरण की तीन भूमियाँ हो सकती हैं—एक तो कहानी की शैली का अनुकरण, दूसरी कहानी में प्रदर्शित जीवन-दृष्टियों या विचारधाराओं का अनुकरण और तीसरी वास्तविक जीवन-चर्या का अनुकरण। शैली का अनुकरण तो किसी प्रकार क्षम्य हो

सकता है, यदि हम उनकी शैलियों को अपने काम में लाते हुए अपनी शैलियाँ भी उनके सम्मुख प्रस्तुत कर सकें और आदान-प्रदान के कार्य में समर्थ हो सकें।

विचारधाराओं और जीवन-दृष्टियों की समता भी किसी हद तक उपयुक्त कही जा सकती है, क्योंकि विचार-स्वातंत्र्य और 'समान मानवता' के इस युग में दार्शनिक समता अथवा विचार-साम्य वर्जित नहीं हो सकते; किन्तु जीवन की वास्तविक परिस्थितियों, और रहन-सहन तथा वैयक्तिक या सामाजिक जीवन-चर्या अथवा नैतिक प्रतिमानों में हम एक दूसरे की नकल किसी प्रकार नहीं कर सकते। इस क्षेत्र में नकल का अर्थ होगा हमारी स्वतंत्र-चेतना और राष्ट्रीय प्रकृति की पूर्ण उपेक्षा। साहित्य के लिए इससे बढ़कर खतरनाक दूसरी वस्तु नहीं हो सकती।

हिन्दी कहानियों में स्वावलंबन और स्वतंत्र विकास की प्रवृत्ति आरम्भ से ही रही है, इसका सबसे बड़ा प्रमाण यह है कि पश्चिमी कहानी के विकसित स्वरूप के प्रति हम अनावश्यक रूप से लालायित नहीं हुए और धीरे धीरे अपनी मंज़िल आप ही तय करते आए हैं। भारतेन्दु के पश्चात् कुछ दिनों तक बंगाली कहानी-लेखकों का प्रभाव हिन्दी पर दीख पड़ा किन्तु प्रेमचन्द और 'प्रसाद' की कहानियों के मौलिक स्वरूप में प्रकट होते ही यह कुहासा भी हमारे कहानी-क्षितिज से दूर हो गया।

कौशिक, सुदर्शन और ज्वालादत्त की कहानियाँ इस अर्थ में घटना-प्रधान और भावात्मक या सुधारात्मक ही कही जा सकती हैं कि उनके भीतर लंबे समय की योजना रहती है और पात्रों या चरित्रों का हृदय-परिवर्तन ही कहानियों का परिणाम होता है। हृदय-परिवर्तन भी किन्हीं मनोवैज्ञानिक संघर्षों द्वारा नहीं, बल्कि कहानी के सुधारात्मक आशय की पूर्ति-मात्र के लिए। इन कहानियों का उद्देश्य जीवन के सूक्ष्म और मार्मिक पहलुओं का चित्रण न था, न इनमें परिस्थिति की वास्तविकता या मनोवैज्ञानिक गंभीरता ही थी। गुलेरी जी की 'उसने कहा था' कहानी भी बहुत अधिक स्थान और समय घेरती है और कहानी

सकता है, यदि हम उनकी शैलियों को अपने काम में लाते हुए अपनी शैलियाँ भी उनके सम्मुख प्रस्तुत कर सकें और आदान-प्रदान के कार्य में समर्थ हो सकें।

विचारधाराओं और जीवन-दृष्टियों की समता भी किसी हद तक उपयुक्त कही जा सकती है, क्योंकि विचार-स्वातंत्र्य और 'समान मानवता' के इस युग में दार्शनिक समता अथवा विचार-साम्य वर्जित नहीं हो सकते; किन्तु जीवन की वास्तविक परिस्थितियों, और रहन-सहन तथा वैयक्तिक या सामाजिक जीवन-चर्या अथवा नैतिक प्रतिमानों में हम एक दूसरे की नकल किसी प्रकार नहीं कर सकते। इस क्षेत्र में नकल का अर्थ होगा हमारी स्वतंत्र-चेतना और राष्ट्रीय प्रकृति की पूर्ण उपेक्षा। साहित्य के लिए इससे बढ़कर खतरनाक दूसरी वस्तु नहीं हो सकती।

हिन्दी कहानियों में स्वावलंबन और स्वतंत्र विकास की प्रवृत्ति आरम्भ से ही रही है, इसका सबसे बड़ा प्रमाण यह है कि पश्चिमी कहानी के विकसित स्वरूप के प्रति हम अनावश्यक रूप से लालायित नहीं हुए और धीरे धीरे अपनी मंज़िल आप ही तय करते आए हैं। भारतेन्दु के पश्चात् कुछ दिनों तक बंगाली कहानी-लेखकों का प्रभाव हिन्दी पर दीख पड़ा किन्तु प्रेमचन्द और 'प्रसाद' की कहानियों के मौलिक स्वरूप में प्रकट होते ही यह कुहासा भी हमारे कहानी-क्षितिज से दूर हो गया।

कौशिक, सुदर्शन और ज्वालादत्त की कहानियाँ इस अर्थ में घटना-प्रधान और भावात्मक या सुधारात्मक ही कही जा सकती हैं कि उनके भीतर लंबे समय की योजना रहती है और पात्रों या चरित्रों का हृदय-परिवर्तन ही कहानियों का परिणाम होता है। हृदय-परिवर्तन भी किन्हीं मनोवैज्ञानिक संघर्षों द्वारा नहीं, बल्कि कहानी के सुधारात्मक आशय की पूर्ति-मात्र के लिए। इन कहानियों का उद्देश्य जीवन के सूक्ष्म और मार्मिक पहलुओं का चित्रण न था, न इनमें परिस्थिति की वास्तविकता या मनोवैज्ञानिक गंभीरता ही थी। गुलेरी जी की 'उसने कहा था' कहानी भी बहुत अधिक स्थान और समय घेरती है और कहानी

के नवीन प्रतिमानों को देखते हुए विराट् या महाकथा (epic story) कही जा सकती है।

लम्बी कहानियाँ प्रसाद ने भी लिखी हैं और प्रेमचन्द जी ने भी, किन्तु इन दोनों की कहानियों में 'उसने कहा था' की सी बोझिल विशालता नहीं है। प्रसाद की कहानियों में वातावरण का चित्रण विशुद्ध 'कहानी' के लिए कुछ अधिक हो जाता है किन्तु अतीत के वे कल्पना चित्र विशुद्ध कहानी हैं भी नहीं। प्रसाद की कहानियों में 'कहानी' की अपेक्षा वस्तु अंकन की प्रवृत्ति अधिक है, जिसके कारण उनकी कहानियों में आवश्यक गत्वरता नहीं आ सकी है। अतीत को सजीव करने की चिन्ता में प्रसाद घटना-सूत्र के साथ शीघ्र गति से आगे नहीं बढ़ते, पाठकों को बिलमाते चलते हैं। उनकी कहानियाँ, इसलिए, काव्यत्व के साथ उपस्थित होती हैं। प्रसाद की कहानियों में उद्देश्य या प्रयोजन का तत्त्व उतना स्पष्ट नहीं है और न उस तत्त्व से बँधी हुई घटना शृङ्खला ही वेगवती है। प्रसाद की कथा-शैली में पर्याप्त आलंकारिकता है। सांस्कृतिक और भावनात्मक लेखन की दृष्टि से प्रसाद की कहानियाँ अनुपम हैं, किन्तु विशुद्ध कहानी के सब लक्षण उनमें घटित नहीं होते।

प्रेमचन्द हिन्दी के सर्वश्रेष्ठ कहानी-लेखक कहे जा सकते हैं। कहानी कहने की उनकी नैसर्गिक प्रतिभा, हिन्दी में ही नहीं, आधुनिक भारतीय साहित्य में बेजोड़ है। प्रेमचन्द हमें आदिम भारतीय कहानीकारों का स्मरण दिलाते हैं जिनके सभी गुण उनमें मौजूद हैं। कहा जाता है कि प्रेमचन्द मनोविज्ञान के पारदर्शी पंडित नहीं थे किन्तु भारतीय प्रतिभा सूक्ष्म और निगूढ़ मनोगतियों या मानसिक तथ्यवाद को ढूँढ़ते रहने में विशेषज्ञता का दावा कभी नहीं करती। किन्तु मन की मार्मिक गतियों की और विशेषतः उसकी आदर्शोन्मुख प्रवाह-धारा की पकड़ प्रेमचंद में बड़ी विलक्षण है। प्रेमचंद की कथाशैली अतिरंजना-प्रधान है, इसलिए उसमें मनोविनोद का अंश बराबर रहता है। करुणा की अपेक्षा हास्य और व्यंग्य की भाव-सृष्टि प्रेमचंद

अधिक सफलता से करते हैं। साधारण विवेक, अनुभव की प्रौढ़ता, आत्म विश्वास, और कथा का स्वाभाविक सौन्दर्य प्रेमचंद की ऐसी विशेषताएं हैं जो उन्हें हिन्दी कहानियों का श्रेष्ठ निर्माता सिद्ध करती हैं। प्रेमचंद की सामाजिक दृष्टि अतिशय उदार और तथ्यपूर्ण है।

उग्र जी हिन्दी के प्रथम और प्रमुख राजनीतिक कहानी लेखक हैं। उनकी आरंभिक उत्साहपूर्ण मार्मिक दृष्टि से जब हम उनकी परवर्ती कहानियों की आस्थाहीन दृष्टि की तुलना करते हैं तो आश्चर्यचकित रह जाते हैं। उदीयमान लेखकों पर प्रतिकूल परि-स्थिति का कैसा विघातक परिणाम पड़ सकता है, उग्र जी इसके उदाहरण हैं।

जैनेन्द्रकुमार की कहानियों से हिन्दी में एक नया उत्थान आरम्भ हुआ। कला की दृष्टि से कहानी अधिक सुन्दर हो गई। एक ही दृश्य या केन्द्रीय घटना से जुड़े हुए कथानक की योजना करके समय और स्थान के संकलन का पूरा निर्वाह उन्हीं की कहानियों से आरम्भ हुआ। प्रेमचंद की कथा-शैली में यह नाटकीय गुण इतना समृद्ध नहीं है। मार्मिक अवसरों और दृश्यों का चुनाव और प्रभाव की व्यंजना जैनेन्द्र जी की कहानियों में बड़ी कुशलता पूर्वक की गई है। किंतु यह तब की बात है जब वे विचारक या दार्शनिक के रूप में ख्यात नहीं हुए थे। जब से उन्होंने यह नया बाना धारण किया, तब से उनकी कहानियों का वह समुन्नत स्वरूप बहुत ढूंढ़ने पर भी नहीं मिलता।

श्री भगवती प्रसाद वाजपेयी, भगवती चरण वर्मा, उपेन्द्रनाथ अश्क और बिहार के श्री राधाकृष्ण हिन्दी के प्रथम श्रेणी के कहानी लेखक हैं। स्त्री-लेखिकाओं में सुमित्रा कुमारी, सुभद्रा कुमारी, उषा देवी और चंद्रकिरण की कहानियाँ प्रभावपूर्ण और सुपाठ्य हैं। कुछ नई प्रति-भाएं उदय हो रही हैं और कुछ अकाल अस्त हो गई हैं। कहानी की वर्तमान पत्रिकाएं नवीन लेखकों के लिए सब से बड़ी बाधा हैं। पत्रि-काओं का प्रतिमान निम्नकोटि का है क्योंकि उन्हें अर्द्धशिक्षित

पाठकों के पास पहुँचना होता है । नए लेखक इस संहारक प्रलोभन से बचने के लिए उद्यत नहीं हैं । यदि यही मनोवृत्ति बनी रही तो कहानियों की दौड़ में हम विदेशों का मुकाबला और भी देर से कर सकेंगे ।

हिन्दी कहानी का नवीनतम स्वरूप प्रचारात्मक है । इसके कुछ लाभ और कुछ हानियाँ बहुत ही स्पष्ट हैं । लाभ यह है कि कहानी बहुत ही नपी-तुली और अनावश्यक भार से रिक्त होती है । साथ ही यदि सामयिक जन भावना के संघटन या स्फूर्ति प्रदान और सामाजिक अन्याय के प्रतिशोध में सहायक होती है, तो उससे व्यावहारिक लाभ भी होता ही है । किन्तु कभी-कभी ये कहानियाँ अत्यन्त संदिग्ध, एकाङ्गी और वैयक्तिक मतों का प्रचार करने के निमित्त भी लिखी जाती हैं, विशेषकर प्राचीन इतिहास की उद्घाटक कहानियाँ । मत-प्रचार का कार्य चाहे वह किसी श्रेणी का क्यों न हो, कथा के स्वाभाविक निर्माण में सहायक से अधिक बाधक ही होता है । सब से पहले वह हमारे अनुभव के क्षेत्र को संकुचित कर देता है । हमारी दृष्टि वास्तविक जीवन की ओर न जाकर मतवाद पर ही केन्द्रित हो जाती है और हम एक निर्णीत विचार को कहानी के सांचे में ढालने का कृत्रिम प्रयास करने लगते हैं ।

हम मानते हैं कि आज का युग मतवादों और विचारों के प्रचार का युग है । कहानी लेखक कमरे में बैठकर, पुस्तकों को पढ़कर, कहानी लिखने को बाध्य हैं । उनका संपर्क देश की जनता और परिस्थितियों से एकदम समीपी नहीं है । हम यह भी मानते हैं कि इन प्रतिबन्धों के रहते भी कुछ बहुत ही सुन्दर कहानियाँ हिन्दी में लिखी गई हैं । कहानी का माध्यम इस प्रकार के विचार-विज्ञापन के अनुकूल भी है किन्तु जन जीवन की बहुलता और व्यापकता, और जीवन के सम्पर्कजन्य वास्तविक संवेदन इस प्रकार की कहानी में कहाँ से आ सकते हैं ? नवीनतम कहानियों में इसीलिए रचना-चमत्कार और बुद्धिवाद का प्राधान्य रहता है । प्रेमचन्द की कहानियों में जो

वास्तविक जीवन सम्पर्क और सहानुभूति है अथवा 'प्रसाद' की कहानियों में ऐतिहासिक कल्पना की मनोरमता के साथ मानव-स्वभाव की विविधता और परिस्थितियों का जो वैचित्र्य है, वह नवीन कहानियों में बहुत ही विरल है। यशपाल और अज्ञेय आदि हमारी नवीन कहानी के प्रतिनिधि लेखक हैं। श्री राहुल और भगवतशरण की ऐतिहासिक कहानियाँ भी उल्लेखनीय हैं। इसमें उपदेशात्मक रूक्षता का दुर्गुण मौजूद है

श्री लक्ष्मीचन्द्र वाजपेयी जिनकी कहानियों का यह संग्रह, 'युगचित्र' प्रकाशित हो रहा है, हिन्दी के ख्यातिप्राप्त कहानी-लेखक हैं। उनकी कहानियों की प्रमुख विशेषता यह है कि वे स्वानुभूति से सिक्त होती हुई भी संयमरहित नहीं हैं! एक मूलवर्ती वैराग्यभावना से संचालित लेखक की लेखनी कला और चित्रण की वस्तुमुखी आवश्यकताओं की सर्वत्र पूर्ति करती है। जहाँ जैसी जरूरत है, चित्र की रेखाएँ वहाँ वैसी ही हल्की या गहरी हैं। कुछ को छोड़कर (जो कदाचित् लेखक की आरम्भिक कृतियाँ हैं) शेष सब कहानियाँ कला की पुष्टता का आभास देती हैं।

किसी मतवाद का आग्रह न रखते हुए 'युगचित्र' में युग-जीवन की बहुमुखी वेदना अनेक कहानियों में व्यक्त हुई है। व्यक्तिगत प्रसंगों का आवरण पहने हुए भी कहानियों में पर्याप्त व्यञ्जकता और सामाजिक और मनोवैज्ञानिक प्रश्नों का उद्घाटन करने का सामर्थ्य भी है। लेखक ने जीवन के बहुमुखी पहलुओं का स्पर्श किया है और सफलतापूर्वक उनके भीतर अपनी पहुँच दिखाई है।

कुछ कहानियाँ तो अत्यन्त सुन्दर चित्रण का उदाहरण हैं। 'छलना' कहानी में नारी स्वभाव की बड़ी मार्मिक झलक दिखाई देती है जिसे लेखक ने कुछ ही कौशलपूर्ण संकेतों द्वारा उपस्थित किया है। पत्रों और डायरी की शैलियों का प्रयोग करने वाली कहानियाँ भी कलापूर्ण हुई हैं। 'सेजगाड़ी' और 'ज्ञेय से परे' कहानियाँ चित्रण की दृष्टि से तो सुन्दर हैं ही, दोनों का अन्त अत्यन्त आकर्षक है।

लेखक की सहानुभूति सदैव उपयुक्त व्यक्ति और पात्र पर गई है। युद्ध में गए हुए सिपाही की पत्नी बंगाल के अकाल का सामना किस प्रकार करती है यह भारतीय नारी के नैतिक बल और अकाल के भयंकर परिणाम के द्वन्द्व को व्यक्त करती है। प्रचारात्मक न होती हुई भी यह कहानी युद्ध कालीन भारतीय स्थिति का एक मार्मिक आभास देती है। इस विषय की अनेक प्रचारात्मक कहानियों की अपेक्षा यह कहीं अधिक प्रभावपूर्ण है। कुछ कहानियाँ शिथिल और साधारण भी हैं किन्तु उनकी संख्या कम है और वे आरंभिक अवस्था की लिखी हुई है। अधिकांश कहानियाँ सुन्दर हैं, तथा कुछ तो विशेष मार्मिक हैं। मुझे विश्वास है कि ये कहानियाँ पाठकों का अनुरञ्जन करेंगी और लेखक के कीर्त्ति-प्रसार में सहायक होंगी।

लक्ष्मीचन्द्र जी मेरे आत्मीय हैं, इसलिए उनके सम्बन्ध में इतना लिखना भी शिष्टता के विरुद्ध ही हुआ है, किन्तु समीक्षक का कर्त्तव्य शिष्टाचार को नांघ कर भी पूरा होता है, इस सत्य की परीक्षा भी मुझे समय-समय पर देनी पड़ती है, और यह भी वैसा ही एक अवसर है। इस अवसर पर मैं 'युगचित्र' की भेंट के लिए लेखक की हार्दिक शुभाशंसा करता हूँ, इस निश्चय के साथ कि भविष्य में वह और भी कलापूर्ण और मार्मिक 'चित्र' हिन्दी को भेंट करेगा।

—नन्ददुलारे वाजपेयी
(काशी विश्वविद्यालय)

विषय-सूची

युगचित्र

नीलम की अँगूठी

सड़क के उस पार, लकड़ी के टाल के बगल में, वह जो बड़ी-सी हवेली है, वहीं की यह कहानी है।

घर की छोटी बहू अपने में पूर्ण स्वस्थ और भरी-भरी रहती है। प्रतिक्षण उल्लसित और आलोड़ित। उसका कद छोटा है, रङ्ग गेहुआँ, सुन्दर मांसल-भुजाएँ, कोमल छोटी-छोटी उँग-लियाँ और आँखें बड़ी, जिन्हें देख किसी को सुख मिल सकता है। आँखों पर की भौंहें ऐसी बारीक कि बस कमान बन कर रह गई हैं। वह जब हँस देती है तो घर हँस पड़ता है। पास-पड़ोस हँस पड़ता है, सारा जग हँस पड़ता है और जब गम्भीर होती है, चारों ओर सन्नाटा छा जाता है। पर वह गंभीरता उसके मुँह की शोभा ढकती नहीं; जैसे कहती हो—प्रकृति की देन है, उसे स्वच्छन्द विचरण करने दो!

अभी कुछ समय पूर्व वह इस हवेली में आयी है। तब वह किसी की नहीं थी, कुछ भी नहीं थी। अब इस हवेली में आकर वह छोटी बहू हो गयी है और सुगृहिणी बन गयी है।

बहुत बड़े धनाढ्य की पुत्री है वह। पिता उसके जवाहरात के बहुत बड़े व्यापारी हैं। उन्होंने उसकी सभी साधों की पूर्ति की है। केवल एक चीज के लिए उन्होंने सदैव टाल दिया है—"अपने घर में जाकर यह साध पूरी कर लेना, बेटी।"

सब साधें पूरी हो गयी हैं। पिता के घर से आते समय अपना सब कुछ वहीं छोड़ आयी है। लेकिन अपनी इस नयी दुनिया में वह अपनी एक साध फिर भी लेती आयी है।

यहाँ, इस परिवार में, सब कुछ है। उसका पृथक आवास है। सुन्दर मोटर है, ताँगा और बग्घी भी है। बहुत बढ़िया हवेली भी उसे प्राप्य है। लक्ष्मी उसके चरण चूमती है। पति स्वरूपवान और सच्चरित्र है। सब कुछ है, पर एक साधारण सी चीज नहीं है, जिसके लिए वह सदा लालायित रही है। वह क्या है?—वह है एक साधारण सी नीलम की अँगूठी!

जी हाँ, बिलकुल साधारण, नीलम की अँगूठी!

पिता ने टाल दिया—"बेटी, कभी किसी को यह फलती है, कभी नहीं भी फलती।"

इस बार, पूरी आशा थी, पति उसकी इस माँग को पूरा कर देंगे। पर वे गंभीर हो बोले—"माता जी से कहो।"

उत्तर साधारण-सा था, किन्तु असामयिक था। छोटी बहू

को यह अप्रिय लगा। उसने मुँह बनाया, जैसे किसी ने उसे कड़वी-दवा पिला दी हो।

बोली—"क्या तुम नहीं ला सकते ?"

"नहीं।"

"सुनो, क्या तुम मेरी इतनी भी न सुनोगे ?"

"सब कुछ सुनूँगा। बस, इतनी-सी बात नहीं सुनूँगा। माता जी से कहो न !"

"माता जी से कहो न।"—बड़बड़ा कर, ताना भरे स्वर में, पति के शब्दों को दोहराती हुई वह बोली—"क्यों, माता जी से क्यों कहूँ ?"

"उन्हें तुम बहुत प्यारी हो।"

छोटी बहू रोष भरे स्वर में बोली—"तुम्हें···तुम्हें नहीं प्यारी हूँ, क्यों न ? वहाँ से मुझे तुम लाये ही क्यों थे, तब ?"

"मैं कब लाया था तुम्हें ?"

"झूठ बोलते हो ! अपने से पूछ देखो !"

दोनों अपनी-अपनी ओर चल पड़े। छोटी बहू छज्जे पर आकर बाहर सड़क को ओर देखने लगी। एक व्यथा भर गयी थी उसके अन्दर ! एक करुणा का सागर लहरा रहा था उसके मन में ! आँखों में यह पानी कैसी ?

अरे ! वह कहाँ जा रहे हैं ?—अपने अन्दर सोचने लगी वह—ओह ! कालेज का समय हो गया ! उसने घड़ी की ओर देखा। ठीक इसी समय तो वह कालेज चले जाते हैं। अब दिन

ार वह उनके आने की प्रतीक्षा करेगी। उसकी आँखें थक ाँयगी। जी ऊबने लगेगा। जब उसे कुछ भी अच्छा नहीं लगेगा, तब वह कहीं सन्ध्या को कालेज की पढ़ाई समाप्त कर, ाहर का इधर-उधर चक्कर लगा कर, मित्रों का आगत-वागत स्वीकार कर घर लौटेंगे! उन्होंने क्या कभी उसकी रवाह की है? सदा अवहेलना! क्या वह इसी की पात्री है?

माता बाहर छज्जे में रामायण पढ़ रही थीं। उनकी अवस्था सत्तर-अस्सी की है। घर के कार्यों में वह अब अधिक दिलचस्पी नहीं लेती हैं। कभी कोई ऐसी विशेष बात आ गयी, तो वह अपना मत देकर अलग हो जाती हैं। धार्मिक कार्यों में उनकी आस्था है। दुनियादारी से सदा बचने की चेष्टा करती रहती हैं।

परन्तु आज छोटी बहू को अपने निकट अतिशय गम्भीर ा बोलीं—"क्या आज उसने कुछ कह दिया है?"

सिर हिला कर, संकोच के साथ, उसने "न" कह दिया।

"तब तू इतनी खिन्न क्यों है, रानी बेटी?"

कोई उत्तर छोटी बहू से न बन पड़ा।

"बोल न! मैं अन्तर्यामी नहीं हूँ जो बिना बताए, तेरे हृदय की बात जान लूँगी।"

"मुझे नीलम की अँगूठी मँगा दो माँ!"

"बस?"

"हाँ।"

"आज ही उनसे (उनका आशय अपने पति से था) कह दूँगी, वह ला देंगे। अरे, यह कौन ऐसी बड़ी बात है ?"

प्रभातकालीन कली की तरह छोटी बहू खुलकर खिल उठी। ऐसा लगा, जैसे पास-पड़ोस और पूरा वातावरण खिलखिला कर हँस पड़ा हो।

सन्ध्या समय जब कालेज से उसके पति लौटकर आए, तब छोटी बहू को अतिशय प्रसन्न पाकर बोले—"क्यों, क्या बात है ? आज तो तुम बहुत प्रसन्न लगती हो ?"

"क्यों, क्या प्रसन्न होना मैं नहीं जानती ?"

"अभी सुबह तो रो रही थीं ?"

"अब नीलम की अँगूठी मुझे मिल जायगी। माता जी ने कहा है कि पिता जी से आज शाम को कह कर कल मँगवा दूँगी।"

"मैं स्वयं ला देता ! इसमें कौन ऐसी बड़ी बात थी ?"

"तुम ला देते ? अच्छा, अपने लिए ले लाओ !"—कह कर उसने पति की चुटकी ली।

पति से वृद्धा ने कहा। सुरेश को आज्ञा हुई—"कल जौहरी के यहाँ से अँगूठी अवश्य आ जाय ! सुन्दर, बहुमूल्य नग हो। धन की चिन्ता न की जाय।"

दूसरे दिन सुरेश अँगूठी लेकर बाजार से लौटा, तो छोटी बहू ने रास्ते में ही टोक कर पूछा—"मेरी अँगूठी आ गयी ?"

क्रोध को दबाकर उसने कहा—"मेरी कृपा के बल पर।"

अँगूठी को हाथ की उँगली पर पहन कर देखा उसने। आज वह कितनी भली, कितनी प्रसन्न और कितनी सुखी उल्लसित मालूम होती है। उसका अंग-अंग खिल रहा है। नीलम की गहरी नीलिमा कितनी शोभन प्रतीत होती है। जैसे एक प्रकाशमान नक्षत्र उसकी उँगली पर दमक रहा हो। वह नीलम की अँगूठी पाकर अपने में खूब प्रसन्न थी। उसने अपने चारों ओर प्रसन्नता बिखेर दी थी और सुरेश जाने एक ओर क्या सोच रहा था।

"क्यों, नीलम की अँगूठी मेरे हाथ की सुन्दर उँगलियों में देखकर तुम प्रसन्न नहीं हो क्या ?"

"नहीं ! बिलकुल नहीं !"

"ऐसा क्यों ?"

"ऐसे ही !"

"तुम भी एक ले लो। रुपये मैं दे दूँगी। ले तुम आओ।"

"नहीं, मुझे न चाहिये। मेरे पास अँगूठी लाने के लिए रुपये हैं। तुमने अँगूठी पहन ली है। देखो, नीलम का नग तुम्हें फलता भी है ! मुझे भय है !"

छोटी बहू ने अक्सर सुना है—नीलम का नग किसी को फलता है, किसी को नहीं भी फलता है। परन्तु ऐसा भी क्या, कि उसे ही न फले और सबको फले ? क्या यह कोरी बुद्धिहीनता नहीं है ? मैं तो पहनूँगी। मुझे अवश्य लाभप्रद होगा। उसने अपने ढहते हुए विश्वास को सँभालने की चेष्टा करते हुए मन-ही-मन कहा।

लेकिन अमांगलिक आशङ्का ने छोटी बहू के साथ युद्ध करना प्रारम्भ कर दिया। छोटी बहू उसे पराजित करना चाहती थी, परास्त कर मसल डालना चाहती थी। जितना ही वह नीलम की अँगूठी के हानि-लाभ की बात सोचती थी, आशङ्का उतना ही अधिक उसका गला दबोचती जाती थी। वह अब उस अँगूठी की बात करना तो दूर, सोचना भी पाप समझती थी। कोई यदि कभी भूल से भी नीलम की अँगूठी की चर्चा कर देता, तो वह परेशान-सी होने लगती थी। उसके अन्दर तूफान-सा उठता और वह उसी में उड़ने लगती थी। वह चाहती थी, इस सम्बन्ध को लेकर उससे कोई कुछ न बोले। उस अँगूठी की कोई चर्चा उससे न करे। घर के भीतर अँगूठी का शब्दोच्चारण भी न हो। कुछ भी हो, संक्षेप में, अब वह उस अँगूठी की चर्चा करना पाप समझती थी। पति को वह शपथ दे चुकी थी—"तुम मेरी अँगूठी को लेकर कभी कुछ भी न कहना।"

सुरेश समझ गया था—उसके अन्दर एक अज्ञात अमांगलिक आशङ्का बुरी तरह घर कर रही थी। वह उसे ज्यों-ज्यों दूर करने की चेष्टा करता था, त्यों-त्यों उसकी आशङ्का बलवती होती जाती थी।

अन्त में एक दिन छोटी बहू के सिर में दर्द प्रारम्भ हो गया। डाक्टर और वैद्यों का मेला लग गया। बाहर सड़क पर मोटरों का जमघट। छोटी बहू की पीड़ा बहुत बढ़ गयी थी—असह्य थी। किसी ने कहा—"बदहजमी है।" किसी ने कहा—"अच्छी

नींद शायद रात्रि में नहीं आई।" एक डाक्टर साहब बोले—"अधिक भोजन करने के कारण......।" किसी ने कहा—"कहीं कुछ नहीं है। परिश्रम कम करती हैं।"

जाने कितने वैद्य डाक्टरों ने कितनी फीस ली और कितने प्रकार की दवाएँ दीं और कितने प्रकार के वक्तव्य दिये। लेकिन उस नीलम की अँगूठी पहनने वाली छोटी बहू की पीड़ा दिन-प्रति-दिन बढ़ती ही गयी; कम एक क्षण को भी न हुई। माता ने कई रातें जाग-जाग कर व्यतीत कर दीं। श्वसुर देवता के व्यापार में हजारों की हानि के अतिरिक्त बहुत-सा धन डाक्टरों और वैद्यों के काम आने लगा। वह ऐसी लक्ष्मी बहू पर लाखों न्योछावर कर उसके प्राणों की रक्षा कर लेना चाहते थे। उन्होंने उसकी परिचर्या में जमीन-आसमान एक कर दिये और वह किया जो शायद शहर का कोई भी धनवान नहीं कर सकता था।

छोटी बहू के पिता ने जब अपनी कन्या के बीमार होने का समाचार सुना, तो वे विकल हो उठे। अभी कुछ ही दिन पूर्व उन्होंने उसे पूर्ण स्वस्थ देखा था और अब अनायास ही क्या बीमारी उसके पास आ गयी?

देखने आये। बेटी की दोनों आँखें आँसुओं से भरी थीं। वह और अधिक व्यथित हो उठे। पूछा—"अब मन कैसा है बेटी?"

"मन अच्छा है। सिर में असह्य पीड़ा है। लगता है, सिर दर्द से मैं मर जाऊँगी पिता जी!"

पिता के मुंह पर गहरी मलिन छाया फैल गयी। बोले—"कहीं कोई ऐसा भी कहता है, बेटी ?" और फिर उनकी दृष्टि लाड़ली पुत्री की नीलम-नग वाली सुन्दर अँगूठी पर जा टिकी। उनको जैसे किसी विषधर सर्प ने डस लिया हो! उन्हें मालूम हुआ—नदी पार करते-करते उनकी नौका भँवर के बीच पड़ गयी है। दोनों आँखें फाड़ कर बोले—"अरे! यह नीलम की अँगूठी तूने कब पहन ली, बेटी ? क्या मैं तुझे नहीं पहना सकता था ? पर मैंने तुझे क्यों नहीं पहनाया ? यह सभी को लाभ करे, ऐसा नहीं होता, बेटी।"

तब उस रानी बेटी की शंका और भी बढ़ गयी। उस व्यथिता के अन्दर जैसे कोई कान के परदे फाड़ देने वाले स्वर में कहने लगा—"बस इस पीड़ा का कारण यही अँगूठी है। बस, यही नीलम का नग है।"

छोटी बहू के कान के परदे फटने लगे। उसने कहा—"पिता जी, कानों में बेहद पीड़ा हो रही है। परदे फट रहे हैं। कोई दवा........"

एक क्षण के अन्दर ही फिर मोटर और ताँगों का जमघट उस हवेली के सामने लग गया। लम्बे, छोटे, मोटे, दुबले सभी तरह के डाक्टरों का बाजार फिर दिखलाई दिया। एक बार फिर नये सिरे से छोटी बहू के कानों के रोग की परीक्षा की गयी। अपने-अपने विचित्र वक्तव्य देकर लम्बी फीसें लेकर सभी चलते बने।

एक पंडित ने आकर कहा—"इस घर में प्रेत का वास है।"

प्रेत-बाधा दूर करने वाले ओझाओं का ताँता लग गया। सुगंधित धूम्र चारों ओर उड़ने लगा। भूत-प्रेत दूर करने के मन्त्र पढ़े जाने लगे। छोटी बहू का शरीर सूख रहा था। कई दिन हो चुके थे और उसका मुख मुरझा गया था। हँसी उड़ चली थी। ओंठ काले पड़ गये थे। वजन काफी घट चुका था।

छोटी बहू को लगा—वही नीलम की अँगूठी उसे खाये जा रही है! पर ऐसा भी क्या? नहीं, नहीं, वह सच ही तो बीमार है! और क्या कोई जीवन में बीमार ही नहीं होता?

सुरेश, उसका पति अत्यन्त गम्भीर था। छोटी बहू को देखा। उसकी दशा पर खेद प्रकट करते धीरे से बोला वह—"मैंने क्या कहा था तुमसे रानी......?"

"क्या?"—भीगी आँखों से, लेटे-ही-लेटे, जैसे अपनी भूल स्वीकार करते हुये उसने कहा।

"यही नीलम की अँगूठी......?"

"बस करो, बस!"

सुरेश वहाँ से, धीरे से चल पड़ा। वृद्धा माता आकर बैठ गयी थीं।

माता ने कहा—"बेटी! सभी तुम्हारी इस अँगूठी को बीमारी का कारण बताते हैं। तुम्हार पिता, श्वसुर, वह सुरेश... और सभी......इसे उतार क्यों नहीं देतीं?"

वह और भी अधिक परेशान हो उठी। बोली—"अब मेरा मन स्वस्थ है, माता जी। आप चिन्ता न करें। क्या जो नीलम की अँगूठी पहनते हैं, वे कभी बीमार होते ही नहीं? क्या उन्हें मृत्यु घेरती ही नहीं?"

"क्यों नहीं बेटी, तू सच कहती है।"—माता बेचारी वृद्धा हैं, वह क्या कहें?

तब कई दिनों की परिचर्या और घोर संकट के बाद एक दिन छोटी बहू अपने आप उठ कर बैठ सकी। लोगों को बेहद प्रसन्नता हुई कि वह अब स्वस्थ हो रही है। छोटी बहू के अन्दर की आशंका कुछ घटी है। पर हृदय अभी बिलकुल शुद्ध नहीं हो सका है।

घर में सभी प्रसन्न दिखाई पड़ते थे। हल्का पथ्य चालू किया गया ताकि वह अधिक दुबल न हो जाय।

एकान्त पा सुरेश बोला—"अब इसे उतार दो। मेरा कहना मानो।"

"मैं मरूँगी नहीं।"

"हठ ठीक नहीं। तुम्हारी बीमारी की जड़ है—यही अँगूठी।"

पर छोटी बहू को ऐसा लग रहा था कि यदि वह उस नीलम की अँगूठी को उतार देगी तो सारा जीवन ही उसके लिये एक दम सूना हो जायगा। उसने पति को सान्त्वना देते हुए कहा—"तुम देखोगे, मैं इसे पहने-पहने अच्छी हो जाऊँगी।"

"मैं भी यही चाहता हूँ, तुम स्वस्थ हो कर फिर अपनी हँसी बिखेरो।"

"यदि न अच्छी हो सकूँ ?"

"इस अँगूठी को उतार दो।"

उधर से वृद्धा माता आईं। सुरेश चला गया। माँ ने कहा—"सुरेश क्या कहता था ?"

"यही कि अँगूठी कूड़े में फेंक दो।"

"क्या तेरी ऐसी इच्छा है ?"

"फेंकने से क्या लाभ होगा, माता जी ? इस पर इतना रुपया लगा है........"

"तुम पर न्योछावर है, इतना रुपया बेटी !"

"क्या सच, मेरी बीमारी का कारण यही है, माता जी ?"

"सभी कहते हैं, भगवान जाने ! पर यदि तू सब का कहना मान भी ले, तो बेजा क्या है ?"

"क्या यही बुद्धिमानी है ?"

"सब का कहना मानना मूर्खता भी नहीं है।"

रात आयी और छोटी बहू सोने के लिए लेट गयी। उसके शरीर भर में दर्द हो रहा था। उसे मालूम होता था, मानों किसी ने उसकी मरम्मत की हो। अंग-अंग दुख रहा था। शरीर का प्रत्येक जोड़ पीड़ा से कराह रहा था। कमर में दर्द, आँखों में दर्द, सम्पूर्ण शरीर में दर्द ! अब रात कैसे कटेगी ? यह आँधी फिर कहाँ से लौट आयी ? यह नीलम की अँगूठी क्या सचमुच

उसके प्राण लेगी ? पर उसे उतारते उसका मन क्यों इस प्रकार रोक रहा है ?

रात कराहते-कराहते बीत गयी। प्रातःकाल ऐसा लगा जैसे अब वह मरने ही पर है। अब उसे कोई नहीं बचा सकता। माता, पिता, श्वसुर पति आदि से उसे नमस्कार कर लेना ही उचित है।

वहाँ उस कक्ष में, उस समय कोई नहीं था। वह उठकर एक क्षण खड़ी होना चाहती थी। कई दिनों की कठिन बीमारी से वह ऊब चुकी थी। सम्पूर्ण बल और शक्ति एकत्र कर वह उठी और उठ कर दो पग आगे चलने को हुई कि दुर्बलता के कारण चक्कर आ गया और फर्श पर वह गिर पड़ी। संज्ञाहीन हो गयी।

उधर उस हवेली में कोहराम मच गया। छोटी बहू गिर पड़ी और उसका दाहना हाथ टूट गया। लगातार दिनभर बेहोश रही। कभी-कभी होश आता और बस फिर बेहोशी। उसी अवस्था में डाक्टरों ने हाथ बैठाया।

जब छोटी बहू की आँखें खुलीं और चेतना लौटी, तो उसने अपने को विचित्र अवस्था में देखा। देखा कई बीमारियाँ साथ-साथ चल रही हैं। हाथ टूट गया है। रूप का सूर्य कुछ दिनों में ही ढल गया है, दुनिया बदल गयी है। हाथ पर पट्टियाँ चढ़ी हैं और एक विचित्र अवस्था में उसका हाथ रक्खा हुआ है।

अपने दाहने हाथ में चढ़ी पट्टियों को देख वह काँप उठी। फिर देखा उसने उसी हाथ की एक उँगली पर लपलपाते उस गहरी नीलिमा में डूबे नीलम के नग को—जैसे विषधर की आँखें उसे डसने की प्रतीक्षा कर रही हों।

वह काँप उठी। उसका प्रत्येक अंग हिल उठा। भय से वह मूर्छित होना चाहती थी। उसे लगा, यह नीलम की अँगूठी नहीं है, यह नीलम का नग नहीं है, यह है काला नाग और नग उसकी आँखों की चमक से प्रकाशित है। उसका विश्वास अपने पति और पिता के प्रति पक्का हो रहा था।

सचमुच ही बीमारी का कारण यही नग और नवीन नीलम की अँगूठी है। छोटी बहू सोचने लगी—इसे निकाल बाहर फेंकना ही अच्छा होगा। इस बार इसे दूर कर देखा जाय, कुछ लाभ होता है या नहीं ?

लेकिन कैसी मूर्खता है ? कहीं यह जड़ अँगूठी बीमारी ला सकती है ? उसने सोचा।

दूसरी ओर दुर्भाग्यवश हवेली में अनायास आग लग गयी। नीचे मोटर खाने में कहीं ड्राइवर से सिगरेट पीते समय पेट्रोल में आग लग जाने से आग और जोर पकड़ गयी। तमाम हो-हल्ला मचा। हजारों आदमी उस प्रतिष्ठित हवेली के चारों ओर खड़े आग का दृश्य देख रहे थे। ऊपर—बिलकुल ऊपर—की मंजिल पर छोटी बहू, नौकर-चाकर और सुरेश बैठे थे। परिस्थिति भयंकर ही नहीं, विकट थी। वृद्धा माता रो पड़ीं।

शहर के 'फायर ब्रिगेड' ने बड़ी तत्परता से शीघ्र ही आग बुझाई। फिर भी हजारों की हानि हो ही गयी। हवेली का कुछ भाग बिलकुल ही नष्ट हो गया!

लेकिन सब कुछ होकर एक नई बात हुई, एक नया अध्याय प्रारम्भ हुआ। एक नये ज्ञान ने उस छोटी बहू के ज्ञान चक्षु खोल दिये।

परिवार के जब सब लोग दूसरे कक्ष में एकत्र हो, आग लगने की घटना की वार्ता कर रहे थे, तब एक नौकर ने सुरेश के पिता के कान में कुछ कहा। वह छोटी बहू के कक्ष की ओर गम्भीरतापूर्वक बढ़े!

"क्या है बेटी?"

"कुछ नहीं, पिता जी, आग लग गई थी। सब कुशल से हैं। भगवान को मैं धन्यवाद देती हूँ।"

"पर तुम्हारा क्या हाल है, बेटी?"

"मैं ठीक हो सकती हूँ, पिता जी?"

"बोल क्या चाहती है? मैं तेरे लिए कुछ भी उठा नहीं रक्खूँगा बेटी! तू इस परिवार के लिए अन्नपूर्णा है।"

अत्यन्त लज्जित होकर उसने कहा—"इस नीलम की अँगूठी को शीघ्र ही घर से बाहर कर दीजिये!"

संतोष की साँस लेकर श्वसुर ने कहा—"क्यों बेटी?"

"पहन कर जी भर चुका, पिता जी? यदि मैं जानती..."

"क्या अब इसकी आवश्यकता नहीं है?"

ऋण

बाबू गिरधारीलाल एक महान आत्मा थे। उन्होंने बड़े परिश्रम से धन-संचय किया था और बहुत समझबूझ कर पैसा-धेला खर्च करते थे। परन्तु इधर कुछ समय से उनकी धरती अधिक अन्न नहीं दे रही थी। इस कारण उन्होंने, दया से प्रभावित होकर, अपने किसानों का लगान भी माफ कर दिया था। फलस्वरूप आमदनी में कमी का होना स्वाभाविक ही था। इस पर भी गिरधारीलाल ने सब कुछ ईश्वर की इच्छा पर छोड़ दिया था। क्योंकि अब उनकी वृद्धावस्था थी और वे शांतिपूर्वक जीवन-निर्वाह करना चाहते थे। वे सोचते थे कि उन्होंने अपना सम्पूर्ण जीवन एक-एक पैसा पैदा करने में लगा दिया है, अन्तिम समय तो सुख से, शान्ति से शरीर त्याग करें! ईश्वर परिवार की रक्षा करेगा और परिवार में है ही कौन? पत्नी, पुत्र और एक नौकर। बस न?

दिनों के साथ ही उनके परिवार का भी काम चलता रहा। आय का तो कोई सिलसिला न रहा। क्योंकि दिनोंदिन उपज अच्छी न होने के कारण किसान अधिक लगान अदा नहीं करते थे। इसके साथ ही बाबू गिरधारीलाल के परिवार का खर्च पूर्ववत् ही बना रहा। आय कम, व्यय अधिक।

एक दिन उनके परिवार के ऊपर भीषण वज्रपात हुआ। बाबू गिरधारीलाल को निरंकुश काल चुरा ले गया। घर में शोक के बादल छा गये। उनकी स्त्री ने खाना-पीना छोड़ दिया। ऐसा मालूम हुआ कि वे भी दो ही चार दिन की मेह-मान हैं। बाबूजी के शोक ने उन्हें व्याकुल बना दिया था। भैय्या अभी शिशु था। उसे भले-बुरे का, संसार का, ज्ञान न था। वह भी अपनी माँ को दैन्य दशा में देखकर सदैव ही टप-टप आँसू बहाया करता था। यद्यपि नौकर भग्गू उसे सान्त्वना देता। कहता—यह तो संसार का नियम है। कोई भी अमर होकर नहीं आया। एक-न-एक दिन सभी को इस संसार से चलना ही पड़ेगा। तब फिर इतना दुःख करने की क्या बात? धीरज धरो भैय्या, बात सुनो। अब चुप हो जाओ। जब भग्गू इस प्रकार भैय्या को समझाता, पुचकारता तो बाबू गिरधारीलाल की स्त्री का दुःख और भी बढ़ जाता था। पति की तस्वीर उनके नेत्रों में बार-बार घूमने लग जाती और वे तब अपने हृदय को किसी प्रकार संतोष न दे सकती थीं।

× × ×

गिरधारीलाल को शरीर त्याग किए हुए कुछ समय व्यतीत हो गया। उनके पुत्र और स्त्री की सेवा उन्हीं का नौकर भग्गू तत्परता और सतर्कता से कर रहा था। जब तक बाबू गिरधारी-लाल रहे, भग्गू को अपना ही समझते रहे। उन्होंने उसे एक कटु शब्द भी तो नहीं कहा। अधिक काम भी नहीं लेते थे।

परन्तु भग्गू भी मालिक को ईश्वर के रूप में ही देखता था। कभी भी उसने काम से जी नहीं चुराया। एक क्षण भी शांत न बैठता। कभी इस कमरे की सफाई में व्यस्त रहता है तो कभी वाटिका का निरीक्षण कर रहा है। तात्पर्य यह कि, वह मालिक की तन-मन से सेवा करता था और उनकी मृत्यु से अब उसके हृदय में कठोर ठेस लगी है। मानो उनका अभाव भग्गू को दैत्य बनकर खाये जाता था। नेत्रों में दिवंगत आत्मा का स्मरण कर आँसू भर-भर आते थे।

ऋण अधिक हो जाने के कारण गिरधारीलाल की जमीन-जायदाद अब उनके परिवार से निकल गई। धन-सम्पत्ति भी उनकी स्त्री ने ऋण चुकाने में दे दी थी। अब उनके पास कुछ भी शेष नहीं रहा। जिस परिवार में लक्ष्मी निवास करती थी, उसी घर में अब भोजन के लाले पड़ रहे थे। कभी-कभी तो ऐसा भी होता कि वे एक बार ही रूखी-सूखी रोटी खाकर अपनी दिनचर्या समाप्त करते। भग्गू यह एक क्षण भी देखना नहीं चाहता था। यह कल्पना भी नहीं कर सकता था, कि जिस परिवार के प्राणी दिन में दो-दो और चार-चार बार भोजन और जलपान करते थे, वे अब केवल एक बार ही भोजन कर कैसे दिन व्यतीत करते हैं। यह उसकी चिन्ता का विषय बन गया था।

एक दिन भैय्या और उनकी माँ एकान्त में कुछ वार्तालाप कर रहे थे। यद्यपि भग्गू जान गया था कि वार्तालाप किसी

विषय विशेष पर ही हो रहा है, तथापि वह बोला नहीं। जब उसने देखा कि अब उसका जाना अनिवार्य है, गया। वार्तालाप जीविका-निर्वाह के सम्बन्ध में चल रहा था। सोचते थे कि भविष्य में क्या होना चाहिये ? क्योंकि अब तो किसी प्रकार का अवलम्ब रहा नहीं। सम्पत्ति ऋण को चुकाने में दे दी गई थी। भग्गू ने दीन भाव से, अपने दोनों हाथ जोड़कर कहा—"यदि आज्ञा हो तो मैं किसी दूसरी जगह नौकरी ढूँढ़ लूँ ? क्योंकि सब का खर्च अब कैसे चल सकता है ?"

गिरधारीलाल की स्त्री के नेत्र तरल हो गये। उनमें आँसू की स्पष्ट छाया झलकने लगी। कितनी बार उन्होंने अपने को सम्हालने की दुर्निवार चेष्टा की, पर अन्त में अथाह स्रोत उन के हृदय से प्रवाहित हो ही गया। वह सिसकने लगीं। अपने अंचल में अनेक अश्रु-मुक्ता उन्होंने चुपके से छिपा लिए। भग्गू उनकी दयनीय दशा पर द्रवित हो उठा। उसने कुछ कहना ही चाहा कि भैय्या की माँ बोल उठीं—भग्गू, यह (अपने पुत्र की ओर संकेत कर) भैय्या तुम्हें अपने चाचा के ही रूप में देखता आया है। यद्यपि इसके पिता नहीं, तथापि तुम इसकी और मेरी आड़ तो हो ही। सब कुछ खोकर भी मैंने तुम्हें पा लिया है। यदि आज वे होते, तो तुम्हें ऐसा कहने का समय ही न आता। हाँ, यह बात अवश्य है कि तुम्हें मेरे यहाँ कष्ट होगा। आज ऐसा अवसर हमारे सामने आ गया है, कि पेट भर भोजन देना भी कठिन हो गया है। तुम दूसरी

जगह नौकरी कर अपना पेट भर सकते हो। अच्छा, यदि तुम्हारी यही इच्छा है, तो जाओ। ईश्वर तुम्हारा भला करे।

ऐसी बातें सुनकर भग्गू के रोंगटें खड़े हो गए। उसने आज उस स्त्री के महान हृदय की थाह पा ली। धीमे स्वर में भग्गू ने कहा—आपने जो कुछ मेरे विषय में सोचा है, सब निराधार है। मैं इस भावना का व्यक्ति नहीं। ईश्वर ने मुझे सेवक का हृदय दिया है, पर कुटिल हृदय नहीं। यदि गिरधारीबाबू ने मुझे पाला-पोषा है, तो अब इस अवस्था में आपको कैसे छोड़ सकता हूँ ? मेरा जहाँ तक उपाय चलेगा, आप लोगों की सेवा करूँगा। आप लोगों के लिए अपना सब कुछ न्योछावर कर दूँगा। मेरा नौकरी करने का विचार उचित है। आप स्वयं देखती हैं, घर में एक बार भी खाने को अन्न नहीं है। नौकरी करूँगा, जो कुछ पाऊँगा, भोजन की उससे व्यवस्था करूँगा। भैया को भी पढ़ाना है। उसे शिक्षा देना परमावश्यक है। यदि बाबूजी होते, तो न जाने वे उसे कहाँ तक पढ़ाते। यदि मैं अधिक नहीं कर सकता तो भी कुछ न कुछ शिक्षा दे ही सकता हूँ। इसीलिए नौकरी करने से ये दो जटिल समस्यायें अवश्य हल हो जाँयगी।

भग्गू नियमित रूप से एक सेठ जी के यहाँ नौकरी करने लगा है। जो कुछ भी पाता है, पैसा-कौड़ी, इनाम आदि सभी भैय्या की माँ के हाथ में, ज्यों का त्यों, रख देता है। भोजन कर

लेता है और पुनः अपने काम पर चला जाता है। उसे गहरा सन्तोष है, अब दो प्राणी भूखों नहीं मरते।

भग्गू ने भैय्या को पास के ही एक स्कूल में भरती करा दिया है। वह पढ़ता है, अधिक परिश्रम से। जब कभी भी उसकी परीक्षा निकट होती है वह रात को रात और दिन को दिन नहीं समझता है। बराबर पढ़ने में ही जुटा रहता है। उसके लिए और काम ही क्या है? परन्तु भग्गू अक्सर कह देता है, भैय्या ऐसा पढ़ना भी क्या? तुम उत्तीर्ण तो हो ही जाओगे। इतना परिश्रम, कष्ट क्यों उठाते हो? भैय्या निरुत्तर हो जाता है।

भग्गू सेठ जी के यहाँ काम तो करता था, पर उसका चित्त सदैव ही उखड़ा-उखड़ा-सा रहता था। क्योंकि सेठ जी उसके हृदय को पहचान नहीं पाए थे। उस दिन, रात को, जब आठ बज गए, भग्गू ने सेठ जी से कहा—सेठ जी अब जाने की आज्ञा है? चिट्ठी पहुँचा दी है।

सेठ जी इस विचार के मनुष्य थे कि यदि किसी नौकर को वेतन दिया जाय, तो उससे अधिक से अधिक काम भी लिया जाय। सच तो यह है, कि यदि उनका वश चलता, तो वे भग्गू को रात-दिन छुट्टी ही न देते। उसकी ओर देख सेठ जी ने कहा—भग्गू, रामदयाल से किराए के लिए कहना है। उसने दो महीने से कुछ भी नहीं दिया है। मास्टर साहब के

यहाँ से लल्ला को लाना है। मैं, अधिक गर्मी है, स्नान करूँगा ? क्या पानी रख दिया है ?

सेठ जी एक क्षण में पचासों काम कह गए। भग्गू को इस चोट ने व्यग्र कर दिया। वह सोचने लगा कि जिसकी मैं दिन-रात इतनी सेवा करता हूँ, कुत्ते की तरह, आज्ञा पाते ही, मारा-मारा फिरता हूँ, वही मुझे एक क्षण को भी अवकाश नहीं देना चाहता। जब घर जाने का समय होता है, पचासों काम बता देता है। उसने सेठ जी से सादर कहा–सेठ जी, मैं काम करने से जी नहीं चुराता। आपकी आज्ञा का दास हूँ, परन्तु अच्छा हुआ करे, यदि आप सभी काम पहले बता दिया करें। मैं अकेला ही हूँ। एक बार ही भोजन पकाता हूँ। यदि यहीं से जाने में देर होगी, तो मुझे भूखों मरना पड़ेगा। अतएव आप सन्ध्या को ही सब काम बता दिया करें। मैं उन्हें समाप्त कर उचित समय से घर चला जाया करूँ।

मालिक उसकी विनय पर द्रवित हुए। उन्होंने कहा— अच्छा, यदि तुम्हें असुविधा होती है, तो तुम जल्दी ही चले जाया करो।

वह प्रसन्न होकर घर चल पड़ा।

× × ×

एक लम्बे अरसे के पश्चात्—

भग्गू ने देखा, भैय्या और उसकी माँ आज अत्यन्त ही प्रसन्न हैं। यह प्रसन्नता ठीक वैसी ही थी, जैसी कि गिरधारी

बाबू के समय में उसने कभी देखी थी। भावभङ्गी में उत्फु-ल्लता झलकती थी। वह तो उन्हें सदैव ही प्रसन्न देखना चाहता था। इस वातावरण को देखकर वह खिल उठा। धीरे से उसने पूछा—भैय्या; आज इतनी प्रसन्नता का क्या करण है।

भैय्या की माँ उसकी बात समाप्त होते ही बोल उठीं—भग्गू, तुम्हारा भैय्या इन्ट्रेन्स पास हो गया।

भग्गू के लिए इससे अधिक प्रसन्नता की बात और क्या हो सकती थी? उसने कहा—ईश्वर चिरंजीव रक्खे भैय्या को। इस घर के दिन फिर लौटेंगे।

भैय्या की माँ ने कहा—भग्गू! अब इसके लिए भी किसी नौकरी की खोज करो। अब इनके बैठने से काम चलेगा नहीं। तुम कहाँ तक कमाओगे? तुम्हारी भी वृद्धावस्था है।

भग्गू को कुछ जोश-सा आ गया। उसने कहा—वाह! आप भी अच्छा कहती हैं। यदि गिरधारीबाबू आज बने होते, तो भैय्या को बहुत पढ़ाते। यद्यपि मेरी दशा अच्छी नहीं है, तो भी जहाँ तक मेरा उपाय चलेगा, भैय्या को पढ़ाऊँगा। भगवान मेरी सहायता करेंगे। उसने देखा, भैय्या के नेत्रों से अश्रु-श्रोत प्रवाहित था। वह भी अब सब कुछ समझने लगा था। वह परवश था तो अवश्य। भग्गू ने तुरन्त कह दिया—भैय्या, तुम कल से कालेज जाना। तुम्हारी माँ ऐसी ही बातें तहाकर हृदय में रख छोड़ती हैं।

भैय्या अपने नौकर भग्गू को दद्दा कहता था। उसने कहा—दद्दा, कल से अवश्य कालेज पढ़ने जाया करूँगा।

"हाँ हाँ, अवश्य। कल से अवश्य जाना।" भग्गू ने कहा।

भैय्या की माँ के नेत्रों में आँसू छलछला आए। उन्होंने कहा—भग्गू तुम बिलकुल ठीक कहते हो, पर कालेज की पढ़ाई में बहुत खर्च लगेगा। हम लोगों के लिए कालेज नहीं है। वह तो बड़े आदमियों के लिए है।

"आप चिन्ता न करें। भैय्या को खर्च मिलेगा। वह क्या छोटे आदमी का लड़का है? अवश्य, वह कल से कालेज जायगा।" उसने उत्तर दिया।

कालेज की पढ़ाई में अधिक खर्च लगता है। यह सर्व-साधारण का काम नहीं कि वे अपने बालकों को कालेज और उच्च श्रेणी की शिक्षा दे सकें। दूसरे दिन भैय्या प्रसन्न-चित्त कालेज गया। उसे पुस्तकों की सूची से ऐसा प्रतीत हुआ कि लगभग ५०) की पुस्तकें लगेंगी। उसे अब ५०) चाहिए।

भैय्या घर आया। भग्गू भोजन कर रहा था। उसने कहा-भैय्या, भोजन कर लो। भैय्या कुछ न बोला। भग्गू ने पुनः पूछा—क्या बात है भैय्या?

"दद्दा, ५०) की पुस्तकें लगेंगी। अब रुपये कहाँ से आवेंगे?" भैय्या ने कहा।

भैय्या की माँ, जो पास ही बैठी थीं, बोल उठीं—"मैंने तो पहले ही कहा था, कालेज की पढ़ाई में अधिक खर्च लगेगा।

बाबू के समय में उसने कभी देखी थी। भावभङ्गी में उत्फुल्लता झलकती थी। वह तो उन्हें सदैव ही प्रसन्न देखना चाहता था। इस वातावरण को देखकर वह खिल उठा। धीरे से उसने पूछा—भैय्या; आज इतनी प्रसन्नता का क्या करण है।

भैय्या की माँ उसकी बात समाप्त होते ही बोल उठीं—भग्गू, तुम्हारा भैय्या इन्ट्रेन्स पास हो गया।

भग्गू के लिए इससे अधिक प्रसन्नता की बात और क्या हो सकती थी? उसने कहा--ईश्वर चिरंजीव रक्खे भैय्या को। इस घर के दिन फिर लौटेंगे।

भैय्या की माँ ने कहा--भग्गू! अब इसके लिए भी किसी नौकरी की खोज करो। अब इनके बैठने से काम चलेगा नहीं। तुम कहाँ तक कमाओगे? तुम्हारी भी वृद्धावस्था है।

भग्गू को कुछ जोश-सा आ गया। उसने कहा--वाह! आप भी अच्छा कहती हैं। यदि गिरधारीबाबू आज बने होते, तो भैय्या को बहुत पढ़ाते। यद्यपि मेरी दशा अच्छी नहीं है, तो भी जहाँ तक मेरा उपाय चलेगा, भैय्या को पढ़ाऊँगा। भगवान मेरी सहायता करेंगे। उसने देखा, भैय्या के नेत्रों से अश्रु-श्रोत प्रवाहित था। वह भी अब सब कुछ समझने लगा था। वह परवश था तो अवश्य। भग्गू ने तुरन्त कह दिया—भैय्या, तुम कल से कालेज जाना। तुम्हारी माँ ऐसी ही बातें तहाकर हृदय में रख छोड़ती हैं।

भैय्या अपने नौकर भग्गू को दद्दा कहता था। उसने कहा—दद्दा, कल से अवश्य कालेज पढ़ने जाया करूँगा।

"हाँ हाँ, अवश्य। कल से अवश्य जाना।" भग्गू ने कहा।

भैय्या की माँ के नेत्रों में आँसू छलछला आए। उन्होंने कहा—भग्गू तुम बिलकुल ठीक कहते हो, पर कालेज की पढ़ाई में बहुत खर्च लगेगा। हम लोगों के लिए कालेज नहीं है। वह तो बड़े आदमियों के लिए है।

"आप चिन्ता न करें। भैय्या को खर्च मिलेगा। वह क्या छोटे आदमी का लड़का है? अवश्य, वह कल से कालेज जायगा।" उसने उत्तर दिया।

कालेज की पढ़ाई में अधिक खर्च लगता है। यह सर्व-साधारण का काम नहीं कि वे अपने बालकों को कालेज और उच्च श्रेणी की शिक्षा दे सकें। दूसरे दिन भैय्या प्रसन्न-चित्त कालेज गया। उसे पुस्तकों की सूची से ऐसा प्रतीत हुआ कि लगभग ५०) की पुस्तकें लगेंगी। उसे अब ५०) चाहिए।

भैय्या घर आया। भग्गू भोजन कर रहा था। उसने कहा-भैय्या, भोजन कर लो। भैय्या कुछ न बोला। भग्गू ने पुनः पूछा—क्या बात है भैय्या?

"दद्दा, ५०) की पुस्तकें लगेंगी। अब रुपये कहाँ से आवेंगे?" भैय्या ने कहा।

भैय्या की माँ, जो पास ही बैठी थीं, बोल उठीं—"मैंने तो पहले ही कहा था, कालेज की पढ़ाई में अधिक खर्च लगेगा।

वही बात सामने आई न ?" तत्पश्चात् उन्हें अपने पति बाबू गिरधारी लाल का स्मरण हो आया। उनका कंठ अवरुद्ध हो गया। अब हिचकियाँ बँध गईं। वे केवल नेत्रों से अश्रु बहाने के अतिरिक्त कुछ बोल नहीं सकीं।

भग्गू ने कहा—भैय्या, इन्हें कहने दो। तुम कालेज में पढ़ोगे, अवश्य पढ़ोगे। पैसे की क्या परवाह ! मैं किसी भी तरह तुम्हें, जो कुछ भी बन पड़ेगा, रुपया दूँगा। मैंने गिरधारी बाबू का नमक खाया है, उससे कभी उऋण नहीं हो सकता। उन्होंने मेरे साथ जैसे उपकार किए हैं, जीवन भर नहीं भूल सकता। कालेज तो अब कल जाओगे न ?

"हाँ, दद्दा कल सुबह ७ बजे।" भैय्या ने क्षीण स्वर में उत्तर दिया।

"अच्छा तो कल देखा जायगा। तुम चिन्ता न करो।" उसने कहा।

× × ×

दूसरे दिन भग्गू लापता था। वह आज प्रातः ही कहीं खिसक गया था। कोई भी यह नहीं जान सका, भग्गू क्यों और कहाँ गया है। भैय्या कालेज जाने के लिए तैयार था। उसके लिए रुपये तो चाहिए थे। वह पुस्तकें—नई पुस्तकें खरीदेगा। अब कैसे वह कालेज जाय ? उसने स्थिर किया—चलो आज यों ही कालेज का चक्कर लगा आवें। देखा जायगा। कल पुस्तकें ले लूँगा। वह अपनी माँ से बिना कुछ कहे हुए कालेज

के लिए चल पड़ा। नाना प्रकार की तरङ्गमालिकाएँ उसके प्रशान्त मानस में उठती और बैठती थीं।

ज्योंही वह चौराहे के निकट पहुँचा, उसके कानों में ये शब्द सुनाई दिए—भैय्या, ओ भैय्या, सुनो तो।

भैय्या ने मुड़कर देखा तो उसके आश्चर्य का ठिकाना न रहा। उसका दद्दा भग्गू बड़ी तेजी से हाँफता हुआ उसकी ओर चला आ रहा था। बात क्या है? यह सुबह से कहीं चला गया था? निकट आकर वह सशंकित हृदय से बोला—भैय्या, लो यह ५०) रुपये। जितनी जरूरी किताबें हों, खरीद लेना। शेष के लिए मैं फिर दाम दूँगा। भला?

"दद्दा यह कहाँ से लाये?" भैय्या ने साश्चर्य प्रश्न किया।

कुछ संशयालु हो वह बोला—तुम्हें इससे मतलब? तुम्हें तो पुस्तकें चाहिए। बेकार की बातें पूछकर तुम करोगे ही क्या? भोजन और अध्ययन ही तुम्हारा काम है। जाओ, अपना काम करो।

भैय्या ने अपनी राह पकड़ी। भग्गू अपने काम पर चला गया।

भैय्या के पास पुस्तकों का ढेर लग गया। उसकी माँ ने यह पूछना उचित नहीं समझा कि उसके पास तो धन था ही नहीं और ये पुस्तकें कहाँ से आ गईं। वह बराबर कालेज आता-जाता है। मेधावी बुद्धि का भैय्या पढ़ने में बहुत तेज है।

इसी प्रकार समय व्यतीत होता गया। भैय्या ने काले,

की पढ़ाई प्रारम्भ कर दी। भग्गू के हृदय से आनन्द की धारा सहसा बह निकली। भैय्या चतुर था। उसके एक सम्बन्धी शिक्षा-विभाग में उच्च पद पर काम करते थे। उनके सहयोग से भैय्या को एक ३०) का ट्यूशन मिल गया। माँ के हृदय में आनन्द नहीं समा रहा था। उसने भग्गू से कहा—"तुम्हारा भैय्या ३०) प्रतिमास पाने लगा है। अब तुम भी वृद्ध हो। अपनी नौकरी छोड़ दो। तुमने मेरे साथ बहुत उपकार किये हैं। अब शान्ति पूर्वक घर में बैठ कर भोजन करो।"

भग्गू इस प्रस्ताव से सहमत नहीं हुआ। उसने कहा—यह तो ईश्वर की कृपा थी। भैय्या उन्नति करे, यही मेरी अभिलाषा है। परन्तु मैं शान्तिपूर्वक बैठ कर भोजन नहीं करूँगा। नौकरी छोड़ना तो ठीक नहीं। बहुत कहने-सुनने पर भी उसने नौकरी नहीं छोड़ी।

× × ×

कुछ समय बाद।

भैय्या सशंकित हृदय घर की ओर चला आ रहा था। उसकी माँ पूर्व दिशा वाले कमरे में बैठी रामायण पढ़ने में निमग्न थीं। भैय्या की पग-ध्वनि ने उनके ध्यान को अपनी ओर आकृष्ट कर लिया। भैय्या ने साश्चर्य्य त्योरी चढ़ा कर कहा—"अम्मा! दद्दा को एक साल की सजा हो गई है।"

"दुत्! उसके लिए ऐसी बातें कहते हो?" उसकी माँ ने उत्तर दिया।

की पढ़ाई प्रारम्भ कर दी। भग्गू के हृदय से आनन्द की धारा सहसा बह निकली। भैय्या चतुर था। उसके एक सम्बन्धी शिक्षा-विभाग में उच्च पद पर काम करते थे। उनके सहयोग से भैय्या को एक ३०) का ट्यूशन मिल गया। माँ के हृदय में आनन्द नहीं समा रहा था। उसने भग्गू से कहा—"तुम्हारा भैय्या ३०) प्रतिमास पाने लगा है। अब तुम भी वृद्ध हो। अपनी नौकरी छोड़ दो। तुमने मेरे साथ बहुत उपकार किये हैं। अब शान्ति पूर्वक घर में बैठ कर भोजन करो।"

भग्गू इस प्रस्ताव से सहमत नहीं हुआ। उसने कहा—यह तो ईश्वर की कृपा थी। भैय्या उन्नति करे, यही मेरी अभिलाषा है। परन्तु मैं शान्तिपूर्वक बैठ कर भोजन नहीं करूँगा। नौकरी छोड़ना तो ठीक नहीं। बहुत कहने-सुनने पर भी उसने नौकरी नहीं छोड़ी।

× × ×

कुछ समय बाद।

भैय्या सशंकित हृदय घर की ओर चला आ रहा था। उसकी माँ पूर्व दिशा वाले कमरे में बैठी रामायण पढ़ने में निमग्न थीं। भैय्या की पग-ध्वनि ने उनके ध्यान को अपनी ओर आकृष्ट कर लिया। भैय्या ने साश्चर्य्य त्योरी चढ़ा कर कहा—"अम्मा! दद्दा को एक साल की सजा हो गई है।"

"दुत्! उसके लिए ऐसी बातें कहते हो?" उसकी माँ ने उत्तर दिया।

"नहीं, नहीं, अम्मा, मैं सत्य कहता हूँ। चोरी में उन्हें जेल हो गई है।"

"वे चोरी करेंगे? क्या तुम पागल हो गये हो?"

"पागल नहीं अम्मा, उन्होंने सचमुच चोरी की है। अभी-अभी समाचारपत्र में पढ़ कर मैं आ रहा हूँ।"

"नहीं, वे ऐसा कदापि नहीं कर सकते। सारा जीवन उन्होंने मेरे ही घर में व्यतीत किया और एक पाई के भी वे जिम्मेदार नहीं हैं।"

"अम्मा, कैसी बातें करती हो? देखो तो दद्दा ने बुढ़ापे में कैसा नीच कार्य किया है! बुढ़ापे में मरते समय उन्होंने अपने मुँह को काला कर लिया है!"

"यदि यह घटना सत्य है तो किसी ने उन्हें व्यर्थ ही फँसा दिया होगा। मैं विश्वास नहीं कर सकती।"

"तुम क्यों विश्वास करने लगीं? पर मैं बिलकुल सत्य कहता हूँ। समाचारपत्र में लिखा था कि उन्होंने सेठ जी के यहाँ चोरी की है और उसके फलस्वरूप उन्हें एक साल की सजा हो गई है।"

"अच्छा, तुम जेल में उनसे मिलो। उन्होंने हम लोगों के साथ बहुत उपकार किये हैं। तुम आज उन्हीं की बदौलत कालेज में बैठ सके हो।"

"अच्छा, मैं दद्दा से अवश्य मिलूँगा।"

"अवश्य बेटा ! तुम्हारा कर्तव्य है यह ।"

× × ×

भग्गू अत्यन्त प्रसन्न था । जेल के सीखचों के अन्दर भी उसकी प्रसन्नता का सागर लहरा रहा था । जैसे उसने अपने चिरमनोवांच्छित अभीष्ट को पा लिया हो ।

जेल के अन्दर भैय्या को देखकर वह फूल उठा । भैय्या के प्रति उसका स्नेह उमड़ पड़ा । नेत्र स्नेह से तरल हो गए । कितने कष्ट सहन कर, एक-एक पैसा जोड़ कर, उसने भैय्या को समर्थ बनाया है ।

आनन्दाश्रु—टप, टप !

"अरे ! यह तुम क्या करते हो दद्दा ?"

"मैं ? मैं बहुत सुखी हूँ भैय्या ! तुम अच्छे हो न ?"

"चोरी करके तुम सुखी हो दद्दा ! छिः ! तुम्हें यह कहते लज्जा भी नहीं आती ?"

"हाँ, चोरी करके भी, परिस्थिति विशेष में, सुखी हुआ जाता है—कभी मालूम ही होगा !"

"तुम सुखी हो ?"

"सुखी हूँ—बहुत !" कहकर भग्गू ने एक रहस्यपूर्ण दृष्टि से भैय्या को देखा और उस भयानक बैरक की ओर चल पड़ा—एक विजयी की तरह सर उठाकर; एक स्वाभिमानी की तरह गर्दन ऊँची करके !

एक गहरी चोट ने भैय्या के हृदय को चूर-चूर कर दिया ।

जेल से बाहर आते समय उसके पैर पृथ्वी पर नहीं पड़ रहे थे, शरीर में लहू का वेग बढ़ गया था और उसके सामने सैकड़ों प्रश्नसूचक चिन्ह बनते-बिगड़ते जा रहे थे। उसे लगा, विशाल आसमान उस पर टूट पड़ा है और उसका दम घुटता जा रहा है।

जेल से भग्गू की वाणी पीछा करती हुई भैय्या से पूछ रही थी—"और तुम सुखी हो? क्या परिस्थितिवश चोरी नहीं की जाती?"

फिर किसी का भीषण अट्टहास भी उसके चारों ओर गूँज उठा।

भैय्या का सर अकथनीय पीड़ा से फटा जा रहा था।

अक्टूबर '३७

ज्ञेय से परे

किन्तु उर्मिला ही क्यों जाय ?

अब, और अधिक अपमान पी जाने की सामर्थ्य उसमें नहीं। जब-जब जाती है, एक नवीन आकांक्षा लेकर, कह देते हैं—'डिस्टर्ब' मत करो।

मालूम होता है, इस वाक्य के अतिरिक्त उन्होंने कुछ पढ़ा ही न हो। पढ़ने की आवश्यकता ही नहीं अनुभव की ! जब कभी वह जायगी, सुनेगी—'डिस्टर्ब' मत करो।

खूब ! दिन-रात पढ़ना-लिखना ! ऐसी पढ़ाई भी क्या ? ऐसा अध्ययन भी क्या ? वह अध्ययन जो जीवन को बिगाड़ दे ? जी भी नहीं ऊबता उनका ? तनिक भी सहृदयता नहीं, बिलकुल रूखे शुष्क। मानवीय गुणों से जैसे दूर। बोलेंगे तो प्रतीत होगा—बहुत जोर लगा कर बोल रहे हैं। इकट्ठी चार बातों का उत्तर एक वाक्य में दे देंगे—शुष्क, हृदयहीन ! और गंभीरता तो जैसे उनकी सहचरी हो। बाल बड़े-बड़े, परन्तु इस युग में भी तेल और सुगंधित सेण्ट को तरसते हैं। कोट का कालर ठीक है, तो कमीज में पान के दाग पड़ गये हैं और उनको इनकी भी परवाह नहीं है। लोग प्रशंसा करते हैं—'बहुत बड़े दिमाग का आदमी है। जीवन

और जगत को समझने वाला महान तत्वदर्शी।' लेकिन कहाँ है बहुत बड़ा दिमाग ? वे तो उसे अब तक नहीं समझ सके हैं।

उर्मिला अपने पति पीताम्बर पर खीझ रही थी। हृदय भर आया था उसका। चारों ओर एक भारी उचाट का अनुभव कर रही थी वह। लेकिन उसकी इस झुँझलाहट में अपने पति के प्रति श्रद्धा भी हो आती थी। कभी-कभी वह स्वीकार करती है--अभी मैं उन्हें अच्छी तरह समझ भी तो नहीं सकी हूँ। परन्तु जब वह उन्हें समझने, जानने की चेष्टा करती है, तभी सुनती है—'डिस्टर्ब' मत करो और वह डर कर लौट आती है। उसका जी और भी फीका पड़ जाता है। उसकी दशा बुरी हो जाती है।

अब उर्मिला अपने पर्यङ्क पर उठ बैठी है। सामने उन्हीं का चित्र लगा है। विद्यार्थी जीवन के समय की रूप-रेखा ! पहले बहुत चंचल थे, अब अतीव गम्भीर !···अब जीवन की प्रत्येक घटना को लेकर घण्टों सोचते रहने के अभ्यासी हो गये हैं। प्रत्येक कार्य के साथ कारण खोजते हैं; जैसे कह रहे हों—जीवित रहने का अर्थ केवल पेट भरना नहीं है, बल्कि जीवन के अन्दर जो सत्य मूर्छित है, उसका अन्वेषण करना भी हमारा कर्तव्य है।······

और फिर ?

'उर्मिला, उर्मिला।'—उसे प्रतीत हुआ उसके अन्दर से ध्वनि आ रही है। कोई उसे अन्दर से बुला रहा है। सोचने

और जगत को समझने वाला महान तत्वदर्शी।' लेकिन कहाँ है बहुत बड़ा दिमाग ? वे तो उसे अब तक नहीं समझ सके हैं।

उर्मिला अपने पति पीताम्बर पर खीझ रही थी। हृदय भर आया था उसका। चारों ओर एक भारी उचाट का अनुभव कर रही थी वह। लेकिन उसकी इस झुँझलाहट में अपने पति के प्रति श्रद्धा भी हो आती थी। कभी-कभी वह स्वीकार करती है--अभी मैं उन्हें अच्छी तरह समझ भी तो नहीं सकी हूँ। परन्तु जब वह उन्हें समझने, जानने की चेष्टा करती है, तभी सुनती है—'डिस्टर्ब' मत करो और वह डर कर लौट आती है। उसका जी और भी फीका पड़ जाता है। उसकी दशा बुरी हो जाती है।

अब उर्मिला अपने पर्यङ्क पर उठ बैठी है। सामने उन्हीं का चित्र लगा है। विद्यार्थी जीवन के समय की रूप-रेखा ! पहले बहुत चंचल थे, अब अतीव गम्भीर !···अब जीवन की प्रत्येक घटना को लेकर घण्टों सोचते रहने के अभ्यासी हो गये हैं। प्रत्येक कार्य के साथ कारण खोजते हैं; जैसे कह रहे हों—जीवित रहने का अर्थ केवल पेट भरना नहीं है, बल्कि जीवन के अन्दर जो सत्य मूर्छित है, उसका अन्वेषण करना भी हमारा कर्तव्य है।······

और फिर ?

'उर्मिला, उर्मिला।'—उसे प्रतीत हुआ उसके अन्दर से ध्वनि आ रही है। कोई उसे अन्दर से बुला रहा है। सोचने

लगी—अन्दर से, हृत्तल से—यह कौन बुला रहा है ? यह क्या उसके अन्दर की उर्मिला है ? नारी उर्मिला ? यदि हाँ, तो उसके यह दो स्वरूप कैसे ?—अरे, उर्मिला इस विवाद को अपने निकट न आने देगी।

उसने बगल में रक्खे ग्रामोफोन पर रिकार्ड चढ़ा दिया। वह घूम-घूम कर बजने लगा। अपना भार, अपनी व्यथा और अपना सब कुछ वह इस ग्रामोफोन के गीत में भुला देगी।—अपने को भी उसी में भूल जायगी। तब सब को भूल जायगी। तब पीताम्बर क्या सब के बाहर है ?

उधर पीताम्बर अपने कमरे में सन्नाटा किये, अध्ययन में व्यस्त है। उर्मिला अभी चुपके देख आयी है। चुपके पढ़ रहे हैं, पढ़ रहे हैं। कल के लिये कुछ भी नहीं छोड़ेंगे, जैसे आज ही उनके लिये सत्य है। उस नारी उर्मिला के लिये उनके पास कुछ भी नहीं है ?

ग्रामोफोन की स्वर-लहरी आवास में गूँज उठी। फिर चारों ओर गूँज उठी। सोचने लगा—नादान है वह, पगली ! मेरे अध्ययन और उपस्थिति .... ।—अच्छा, यदि वह चुपके-चुपके जा, उसके दोनों गीले नेत्र पीछे से बन्द कर ले, तो ? यह सोचकर उसके मुँह पर विमल हास्य खिल उठा।

पीताम्बर उठा। उधर को बढ़ा। विचार-धारा फिर बदल गई। गंभीर हो गया। उर्मिला के आवास के निकट जा,

शुष्कता से बोला—अपना यह बेसुरा राग बन्द कीजिये। मैं अध्ययन कर रहा हूँ। 'डिस्टर्ब' मत कीजिए।

चारों ओर एक विचित्र वातावरण बन गया। यद्यपि इस बार वह अपने अन्दर की हँसी पूर्णरूपेण छिपा नहीं सका। मुख पर छा रहे बालों को मस्तक की ओर चढ़ा, बोला—'एक कप चाय चाहिये।'

वह कुछ न बोली, चुपचाप सुनती रही। झुँझलायी। खीझी। परेशान भी हुई। दुख का सागर उमड़ चला उसके अन्दर। जी में आया—ऐसी परवश क्यों हो गई वह नारी उर्मिला? उसके पल-प्रति-पल का सारा सुख क्यों इस प्रकार दूसरे के अधिकार में चला गया? ऐसी खिन्न-मना वह कब तक रहेगी? उसका जीवन भी तो लहराते हुये उस सागर के समान है, जिसमें प्रतिक्षण ज्वार-भाटा आते रहते हैं! जो नितान्त निर्बन्ध है, निस्सीम है, अनन्त है। जिसको जीवनो वरदान के रूप में मिला है जो प्रतिक्षण सुन्दर, सौरभयुक पुष्प की तरह गमकता रहता है।

'स्टोव' जलाया। चाय तैयार करने लगी। विवाह के पूर्व पिता जी कहते थे—पीताम्बर सरीखे विद्वान इस शहर में दो-चार ही होंगे। स्वास्थ्य-संपन्न युवक। सुडौल शरीर। बड़ी-बड़ी आँखें। चौड़ा मस्तक। भरा, तेजोमय चेहरा। गम्भीरता सदैव ही उसके मुख पर मुखरित रहती है। धन-दौलत की कमी नहीं। सुन्दर अंग्रेजी ढङ्ग का बँगला। हरे-हरे लता-वितानों

से सुसज्जित ! परिवार में माँ-बाप, भाई-बहिन सभी कोई हैं। लेकिन हाँ, उर्मिला के लिए क्या है ? कौन है ? सभी कोई हैं, होंगे, हुआ करें। उनके होने-न-होने से होता क्या है ? दुनिया भी तो है। परन्तु उससे मतलब ? उसके अन्दर जो उर्मिमा है, उसे तो पीताम्बर विद्वान होकर भी कहाँ समझ सका है ?—कहाँ पा सका है ? उस उर्मिला को कब छू सका है ? बात-बात में भृकुटी चढ़ाना···आह्लाद उन्हें प्रिय नहीं !—गम्भीरता और गम्भीरता !...और ऐसी गम्भीरता उसे तनिक भी पसन्द नहीं है। क्या यही जीवन है ?

चाय तैयार हो गई। अब पीताम्बर तक चाय के प्याले को ले जाने की अथवा उसके समक्ष उपस्थित होने की सामर्थ्य उसमें न थी। कुछ परेशानी, कुछ झिझक, कुछ लज्जा और कुछ मन का भार। किन्तु उसके अन्दर की उर्मिला ने कहा—पगली रानी ! उनसे लज्जा करती है ? वे तो तेरे हैं। अपने आपसे कोई संकोच करता है ? लज्जा करता है ? न, वे उसके हैं। और वह उनसे दूर ही कैसे रह सकती है ?

अच्छा, उर्मिला अब नहीं डरेगी, नहीं झिझकेगी, नहीं शरम खायेगी। तब ट्रे ले आगे बढ़ी, बढ़ती ही गयी। जैसे अब बीच में उसे कहीं भी रुकना नहीं है और सब कुछ निबटारा कर लेगी।

उसके प्रवेश से पीताम्बर ने अनुभव किया—अध्ययन-कक्ष की शांति भंग हो गयी है। वह एक मोटे ग्रन्थ पर दृष्टि गड़ाये,

पुस्तक-कीट की भाँति, अध्ययन में व्यस्त था। बिजली का पंखा आवश्यकता से अधिक गति के साथ 'भर्र...र...र' करता चल रहा था। ठीक ऐसा ही निर्बन्ध जीवन वह भी व्यतीत करना चाहती है।

सामने टेबिल पर चाय की ट्रे रखकर वह खड़ी हो गयी, जैसे आज वह समूचे पीताम्बर को अपने अन्दर रख लेने पर तुली हो।—जैसे वह कह रही हो 'कुछ मेरी भी सुनो, मेरी भी सुनो। दुनिया केवल इतनी ही नहीं है। बहुत बड़ी है। उसे पुस्तकों में बाँध देना, सीमित कर रखना भले ही विद्वत्ता हो, पर व्याव-हारिक जगत की बात नहीं।'

किताब, किताब है, वह दुनिया नहीं हो सकती। उर्मिला नहीं हो सकती। किताब द्वारा तुम उर्मिला को नहीं छू सकते। वह पुस्तक से ऊँची है। महान है।

उसके जी में यह भी आया—आज वह अपनी सारी मनो-ग्रंथियाँ खोल देगी। वह अपने निकट कुछ भी कहने को न रख छोड़ेगी।

पीताम्बर कुछ न बोला। कुर्सी पर बैठा अपने पैर हिलाता रहा। पत्नी की ओर बिना देखे ही चाय पीने लगा।

और उर्मिला बोलना चाहती है, पर बोल नहीं पाती। यह क्यों? बहुत साहस बटोर कर पूछा—'ठीक है, चाय?'

अन्यमनस्क हो वह बोला—'हाँ, ठीक है। पर...हाँ...तुम जा सकती हो...लेकिन शकर कुछ ज्यादा डाल दी है और

यही कारण है वह आवश्यकता से अधिक मीठी हो गयी है। अधिक मिठाई भी ठीक नहीं होती ! तुमने सुना ही होगा, अधिक मिठाई में कीड़े पड़ते हैं।' फिर कुछ रुककर, जब देखा कि उर्मिला परेशानी का भार ले चल रही है बोला—'सुनो !'

वह रुक गई। रुक कर फर्श पर बिछी कार्पेट पर पैर की उँगली चलाने लगी। उसकी आँखें भीगी थीं और सर नीचे झुका था। उसके अन्दर एक क्षण में निराशा का तूफ़ान आ गया और उसका दम-सा घुटने लगा। कुछ भी नहीं बोली। उन्हीं से कुछ सुनने की प्रतीक्षा करती रही। न बोल कर जैसे कह रही हो—बोलो न, क्यों बुलाया तुमने ? क्या काम हो सकता है तुमसे मेरा ?

वे बोले—'अभी तुम्हें बहुत कुछ सीखना शेष है उर्मिला ! दैनिक जीवन के साधारण कार्य भी कुशलतापूर्वक नहीं कर सकतीं ! वह 'गिरी' पड़ोस की लड़की कितनी अच्छी चाय बना लेती है। उससे, यदि किसी दिन आ जाय, चाय बनाने की कला सीख लेना।'

सब कुछ सुनकर उसका जी भर आया है। उसे न चाय बनानी है और न पीनी ही है। वह किसी की दासी ही कब है, जो चाय बना-बना कर पिलाती रहे। वह चलती है, चाल बुरी लगती है। वह बात करती है, बात बुरी लगती है। वह खुश होती है, उसका खुश होना बुरा लगता है। वह ग्रामोफोन बजाती है, 'डिस्टर्ब' होता है। बस 'डिस्टर्ब' ही पढ़ा है।

वह बोली—'बीबी (बहिन) को चाय बनाना 'गिरी' से कह कर सिखा दो न! किसी दूसरे के घर जाकर कहीं उसे भी ऐसी ही झिड़कियाँ न सुनने को मिलें ? तब इस घर का क्या सम्मान रहेगा ?'

'गिरी', वह पागल लड़की चाय बनायेगी—मन में झुँझलाती उर्मिला उसके कमरे से बाहर आयी और मन-ही-मन कहने लगी—अब कभी वह उनके कमरे में नहीं जायगी !...अभी बहुत कुछ सीखना है...और तुम्हें तो बात करना भी अभी सीखना है···तुम्हारा पढ़ना-लिखना सब बेकार हो गया···सब···

उस उर्मिला की सारी साधें समाप्त हो गयीं। आज चाय को माध्यम बनाकर वह पूर्णरूपेण उसके समक्ष आना चाहती थी।

अगर 'गिरी' अच्छी चाय तैयार कर लेती है, तो इन्होंने मुझसे कहा क्यों था ? क्यों न उसीसे···········? वह पगली 'गिरी'? परीक्षा लेनी थी·····हुँह,·····अच्छी···चाय···। साफ़ रहने का उसे सलीका नहीं।

तब जी में आया फिर से मन की ग्रन्थि सुलझा ले। पर अब तो वह स्वयं उलझ गई है। मूर्तिवत् मौन स्तब्ध खड़ी है। इसी बीच पीताम्बर बाहर आ बोला—"हाँ, जाओ न ?"

—'हाँ, जाती हूँ।'

कमरे में कुछ सोचती रही। करुणा-विगलित आँखें सामने लटकते हुए तैलचित्र पर टिकी थीं। यही उसके पति हैं—

अबूझ, शुष्क, महान ! क्या जानें वे उसके मन की व्यथा ? कितनी भीषण व्यथा है ? कितनी आशा और अभिलाषाओं के साथ उसने इनको स्वामी के रूप में अपने अन्दर पाया था ! उसके अपने कुछ सपने थे। नहीं जानती थी वे इतने नीरस, शुष्क होंगे ! विवाह-मण्डप में उसने कनखियों से देख सोचा था—वह इन्हीं में रल जायगी, समा जायगी, जैसे फूल में सुवास इनसे दूर रहेगी ही कैसे ? उसका संसार इन्हीं तक सीमित जो है।

अनायास ही उसके जी में आया था—पहले-पहल इनसे पूछेगी क्या ? कैसे बात करेगी ? उसके पास इतना सलीका ही कहाँ जो इनसे खुलकर कुछ बात कर सके ! परन्तु उसका सोचना भी कैसा अर्थहीन निकला ? और किसी का सोचना सदा सार्थक ही कब होता है ? सोचना अपने अर्थ में अनिश्चय का भी तो द्योतक हो सकता है ?

और विभाकर का स्वरूप आज इस क्षण उसके समक्ष आया ही क्यों ? मुख पर अभिनव हास ! कभी चुप नहीं बैठता। बोलता है, बस, बोलता ही चलता है। कुछ सोचता नहीं, कुछ समझता नहीं। श्वेत वस्त्र, सदा मुखरित······

मालती उर्मिला से कहती थी—बड़े गम्भीर हैं वे। चारों ओर यश छाया हुआ है। गम्भीरता कभी रिक्त होने वाली वस्तु नहीं ! उर्मिला सुखी है। क्या सच उर्मिला सुखी है ?

× × ×

उपलब्ध हो ही नहीं सकता है ? जीवन और जगत के तत्वदर्शी ऐसे ही हुआ करते हैं क्या ?

× × ×

आज वे अपनी विजय पर फूले नहीं समा रहे हैं। सारा परिवार आल्हादित है। घर का कोना-कोना खिल-खिल कर रहा है। घर बन्दनवारों से सजाया गया है। वातावरण मुखरित है। पीताम्बर को श्रेष्ठ 'थीसिस' लिखने पर 'डॉक्टर आफ़ साइन्स' की उपाधि से विभूषित किया गया है। उसके पिता ने शहर के प्रतिष्ठित व्यक्तियों को इस शुभ अवसर पर दावत दी है और एक-एक कर सभी आ रहे हैं।

उस दिन उर्मिला अत्यधिक व्यस्त रही, पर उसका पीताम्बर पर अन्दर-ही-अन्दर खीझना बन्द नहीं हुआ। यह सब क्या है ?—आनन्द, आल्हाद, सुख की गङ्गा का उसके निकट कुछ भी मूल्य नहीं है। उसके अन्दर अमानिशा का अन्धकार है, जहाँ कुछ भी दृष्टिगोचर नहीं होता। वह तभी दूर हो सकता है, जब पीताम्बर अपने स्नेह की कोमल हँसी की चन्द्रिका उसे उदारतापूर्वक दे सकेगा।

अत्यन्त समारोह के साथ वह दिन समाप्त हो गया और रात आ गयी। उर्मिला के कक्ष में प्रकाश है, हृदय में अन्धकार ! वह जीवन के अनेक सपनों में उलझी पड़ी है। उसकी दशा पर किसे दया आती है ? वह सचमुच ही निरीह है। जीवन का पथ कितना सुनसान, कितना विस्तृत और कितना कठोर है ? कैसे

पार कर सकेगी वह उर्मिला ? उसे एक साथी—जीवन-साथी चाहिए न ? वह साथी है कौन ?—शुष्क पीताम्बर 'डॉक्टर आफ़ साइन्स', बहुत बड़े दिमाग का आदमी।

चुपचाप, पीछे की ओर से, पीताम्बर अन्दर आया।

उर्मिला अपने जीवन के ताने-बानों में उलझी थी। उसे इधर-उधर का ज्ञान नहीं था।

आकर पीताम्बर ने आँखें बन्द कर लीं।

'मैं जानती हूँ !'—उर्मिला बोली।

सामने आकर वे हँसने लगे और उर्मिला जैसे कट गयी हो। अब वह अपने आँसू किसी प्रकार न रोक सकी। एक लम्बे अरसे का दुःख आँसुओं के रूप में वह चला······ हिचकियाँ·····हिचकियाँ !

पीताम्बर ने उस कोमल नारी उर्मिला को अपनी दोनों भुजाओं में लेकर कहा—"तुम मेरी हो, रानी ! मैं अभी तक अध्ययन में व्यस्त था। अब हम-तुम जीवन में प्रवेश करेंगे।"

उर्मिला के नेत्रों से आँसू थमते ही नहीं थे। वह नहीं जानती थी—द्वन्द्व का अन्त इस प्रकार होगा। आज······ आज क्या ये समझ सके हैं—मैं इनकी हूँ ?

—'अब भी तुम व्यथित हो रानी ?'

—'तुम्हें पाकर नहीं।'

—'तब इन आँसुओं का कारण ?'

—'इतना रुलाया ही क्यों तुमने ?'

—'इतना सुख अन्त में तुम कैसे पातीं ? आज तुम्हारे अन्दर से ये सुख—संयोग—के आँसू बह रहे हैं।'

वह सोचती है—काश, वह पहले समझ पाती।

पीताम्बर ने उसकी चिबुक छूकर कहा—'अब तो हँस दो, रानी।'

उर्मिला की हँसी न रुकी। मुख पर स्वच्छ शरद् पूनो की निर्मल स्वच्छ चन्द्रिका की भाँति हँसी खेलने लगी। लोम-लोम पुलकित हो उठा। सुप्त वातावरण जागृत हो उठा। हर्षोन्मादित दिशाएँ नवदम्पति के इस सुखद मिलन पर बधाइयाँ दे रही थीं।

'अब तो 'डिस्टर्ब' नहीं होता ?'—उर्मिला ने पूछा। दोनों अट्टहास कर खिल उठे।

बाहर, दूर कहीं एकान्तवासी पक्षी के बोलने का स्वर गहरी निस्तब्धता को भङ्ग कर रहा था।

फरवरी '४०

भाभी

भाभी,

दुख का भारी बोझ ले, अब इस दुनिया में चलने की सामर्थ्य नहीं रह गई है। लगता है--कहीं कुछ भी नहीं है। सुनसान बिखरा है चारों ओर। जिन्दगी में हरियाली नाम की चीज दिखती ही नहीं। है केवल अस्थिरता, उद्विग्नता! उसी के भार से असमर्थ मानव झुक-झुक कर चलता है। जिन्दगी की गाड़ी किसी प्रकार आगे को ठेलता है—बेमन!

सोच देखो न भाभी, मैं कितना अभागा हूँ! पागल भी तुम्हें कहने का अधिकार है। तीन साल जैसे स्वप्न-से बीत गये। दूर-दूर रहा तुमसे। एक पत्र देना भी पाप समझता रहा। सोचता रहा—क्या सन्देश लिखूँ तुम्हें? मेरे पास समाचार ही क्या थे? आज जी में एक भारी उलझन है और ऊब! जी में आ रहा है, दुनिया एक भारी और पेचीदी पहेली है, जिसे शायद मैं जीवन भर नहीं समझ सकूँगा।

सच कहूँ भाभी, आज मैं अत्यन्त दुखी और निराश हो आया हूँ। मीठा-मीठा दर्द दिल में उठ, घने कुहरे की भाँति मुझे ढक लेता है। दुःख, एक भारी बोझ बन, मुझे पीड़ा दे रहा है। नेत्र रोते-रोते सूज गये हैं और शरीर थक गया है। अनायास ही आज मुझे उस सत्तो नाम की लड़की का स्मरण

हो आया है। न जाने आज मुझे वह क्यों इतनी प्यारी लगती है। दिल में ऐसी दुबकी बैठी है कि कोशिश करने पर भी······। भाभी, उसकी हँसी······। मैं वहाँ, तुम्हारे यहाँ इतने दिनों न ठहरता। भैया ने चलते-चलते भी कहा था—"ज्यादा दिन न लगा देना। जल्दी ही लौट आना।" मैंने "हाँ" कर लिया था। जब मैं तुम्हारे यहाँ दो दिन ठहरा, तब तीसरे दिन मेरा लौटने को जी न कर रहा था। भला ऐसा क्या था······? जैसे मन उन्हीं दीवारों में रम गया हो। मैंने उस ग़रीब, भोली सत्तो को कभी भी जी भर कर नहीं देखा और न शायद उसने ही······! वह मुझे देख मुस्करा दिया करती थी। मैं सोचता रह जाता था—"क्यों ?" उत्तर अपने में न पा, कभी-कभी झुँझलाने के बजाय, मैं भी हँस देता था। इस मुस्कराहट में ही एक "रहस्य" छिपा-सा जान पड़ता था। तीसरे दिन जब मैंने कहा—"आज जाऊँगा, सत्तो !" तब वह चुप बनी रही—गम्भीर। फिर बोली—"ऐसा आना भी क्या ? इससे तो न आते सो ही भला था। अब यदि आये ही हो, तो दो-चार दिन और ठहर लो।" और न जाने क्यों, भावुकता में आकर, बिना कुछ आगा-पीछा सोचे मैंने कह दिया—"अच्छा लो, आज न जाऊँगा।" यद्यपि तीसरे दिन कालेज खुलने वाला था, तो भी केवल उसके मन-बुझाव के लिए, कहीं उसका कोमल नारी-हृदय दुख न जाय, यह बात ध्यान में रख, एक सप्ताह वहाँ और ठहर गया था।

सोचता हूँ, उस चीज को मैं चाहूँ ही क्यों, जिसको सँभाल कर, सुरक्षित रख सकने में मैं असमर्थ हूँ। पर भाभी, अपनी आज तक की इस जिन्दगी को मैं कतई नहीं समझ सका हूँ। और शायद ही कोई समझने का दावा कर सकता हो। खैर, इस समय मैं केवल अपनी ही बात चला रहा हूँ। तुम यह जानने के लिए अवश्य ही उत्सुक होगी, आखिर मैंने सत्तो से ऐसा अपनापा कैसे स्थिर कर लिया! उसकी भी एक कहानी है, भाभी!

उस बार, जब मैं भैया की आज्ञा ले, तुमको लेने लखनऊ गया था तब तुम बीमार थीं। मुझे इसका पता तुम्हारे नौकर भीखू से नीचे फाटक पर ही लग गया। मैंने उससे पूछा—"देख-रेख कौन करता है उनकी ?"

"कोई रिश्ते की लड़की हैं।"

इतना सुन मैं सदर फाटक की ओर बढ़, ऊपर जाने लगा। उस समय तुम्हारी बीमारी की खबर सुन मैं सन्न-सा रह गया था। आया था उल्लास लेकर······और······। तब रास्ते में उस लड़की पर आँखें टिकी रह गई थीं। कितना सुन्दर रूप था, भाभी! तुमसे कुछ भी नहीं छिपाऊँगा आज! आत्मा का यह सारा कलुष, सारा विकार इस पत्र द्वारा तुम्हारे श्री-चरणों पर निकाल कर रख दूँगा। बिलकुल नहीं डरूँगा कि तुम बुरा मान जाओगी। क्षमा पा लेना भी तुमसे मेरे लिए आसान काम है; क्योंकि सदैव ही तुम्हारी मुझ पर असीम ममता और

स्नेह रहा है। हाँ, तो उस लड़की को देख मैं कुछ सोचता रहा। बिलकुल अप-टु-डेट ढंग की सुन्दर साड़ी। केश-गुच्छिकाओं के मध्य में हरा फीता! भीनी-भीनी सेण्ट की सुरभि मुझे पागल बना रही थी। पहले वह गुमसुम बनी रही, जैसे बोलने नाम की कला से उसका परिचय ही न हो। फिर जब मैं खट-पट करता तुम्हारे कक्ष के बिलकुल ही निकट जा पहुँचा और बोलना उसके लिए अनिवार्य-सा हो गया, तो झट दौड़ती आई। झिझकती और सङ्कोच करती बोली—"वहाँ न जाइए।" और जैसे वह अपने इस बोलने—एक अजनबी से बोलने—के परिणाम स्वरूप गूँगी बन प्रायश्चित्त करने लगी। निर्विकार भावना से मौन खड़ी रही। मुझे ऐसा मालूम हो रहा था, जैसे अपनी गलती को महसूस कर वह धरती में ही समा जायगी। आँखें ऊपर को उठती ही न थीं। भारी अपराध उसने बोलकर कर डाला था। आत्मा उसकी कहती थी—"छिः-छिः-छिः! अपरिचित से इस प्रकार खुलकर बोलना!—भीखू था, उससे मैं कहला सकती थी।"

मैंने पूछा—"भाभी कहाँ हैं?"

आँखों से "अन्दर हैं" का सङ्केत किया। मैंने प्रश्नों की झड़ी लगा दी—"क्या कर रही हैं? मैं अन्दर क्यों नहीं जा सकता? तुम भाभी की कौन हो? मुन्नू कहाँ गया है?"

उत्तर में उसने केवल इतना भर कहा—"भाभी अन्दर बीमार पड़ी हैं। सो रही हैं। नींद खराब न हो, इसलिए मैंने

आपको बाहर ही रोक लिया है—मैंने नहीं!"—गलती सुधारती बोली—"बल्कि डॉक्टर साहब सोते से जगाने को रोक गये हैं। घर में और कोई नहीं है।"

"शरमाती हो क्या तुम ?"

उसने हँस दिया। भाभी, उस क्षण, मुझे ऐसा प्रतीत हुआ—राशि-राशि किरण-मालिकाओं के हीरकोज्ज्वल प्रकाश में मेरी गति है।

परन्तु आज वह एक विचित्रता और कौतूहल का अनुभव कर रही है। सदैव ही लाजवन्ती बनी रही है वह! पर रवि को देख जिस प्रकार प्रातःकाल कुमुदनी खिल उठती है, ठीक सत्तो की वही स्थिति है। उसके जी में बार-बार आता है—युवक है, प्रियदर्शन! अभी कॉलेज में पढ़ता है। वह स्वयं भी पढ़ती है। पर आकर्षण-भावना कैसी......? रवि को और पास, निकट से देखने की बात...। अपने को, अपने आपको भुलाने, धोखा देने को पुस्तक के पन्नों के बीच उलझी रही। मन उन पर न टिक सका। रूमाल पर लिखने लगी— 'रवि!' अभी उसने इस नाम को, नाम के यथार्थ अर्थ को, नहीं समझा, पर जैसे वह बिना लिखे दम लेगी नहीं। इसके आगे, अपने अन्दर कुछ मुस्करा, सोचने लगी—यदि इसे उन्हें दे दूँ तो! यदि कह दें भौंहें चढ़ा कर—'ऐसे बहुत से रूमाल पड़े हैं मेरे पास, आपकी चीज आप ही को मुबारक रहे तो?'—मर जायगी न, सत्तो? पर

कहेगी एक बार, अच्छा अपमान पी लेगी। बस न ?

अबूझ लड़की सत्तो चट अन्दर गई। मैं बगल के कक्ष में बैठ, उलझन के जाल में फँस, अपने बच निकलने की चिन्ता करने लगा। बार-बार उस समय जी में आ रहा था—"आखिर मैं भाभी के यहाँ आया ही क्यों ?...और यह पागल लड़की...? गूँगी कहीं की !"

कि भाभी, इसी बीच सत्तो, भीता हरिणी-सी, मेरे निकट आई। पूछा—"आप कानपुर से आ रहे हैं ?"

"नहीं, मेरठ से।"

"भाभी के...।"

"हाँ, भाभी की ससुराल से।"—इस बार हँसी का ढेर अन्दर न रख सका।

तब उसकी ज्योतिर्मयी मुख-मुद्रा सङ्कुचित हो उठी। लगा, जैसे वह मेरे शब्दों को इस ढङ्ग से सुनना पसन्द नहीं करती।

अन्दर गई। स्टोव जलाया और चाय तैयार की। गिलहरी भी इतनी तेजी से नहीं दौड़ सकती। भीखू मिठाई ले आया। मेरे सामने लज्जा में डूबती, वह चाय और मिठाई लेकर आई। ट्रे रख, सङ्केतात्मक दृष्टि से मेरी ओर देखती रही। और फिर जैसे भूली बात याद कर बोली—"बिस्कुट-टोस्ट भी लेते हैं ?"

"मिलने पर इन्कार करना भी क्या ?"—कह. कर सिगरेट फूँकने लगा।

कुछ समय बाद बिस्कुट और टोस्ट की भी 'डिश' आई। आतिथ्य-सत्कार के भार से मैं झुक गया था, भाभी!

और उस दिन की बात?

रात को मैं तिमञ्जिले पर लेटा था, उलझनों के पहाड़ से दबा। सामने का दरवाजा खुला था।

सत्तो दूध लेकर आई। मैं कुछ सोच रहा था—सोचता रहा। पगली...हाँ, उसे पगली ही कहूँगा...। दूध रख बोली—"भाभी अभी जगी थीं। जी भी उनका कुछ हल्का है। आपके आने का हाल उनसे कह दिया है। उन्होंने बुलाया भी था, परन्तु मैंने कह दिया—"रात हो गई है, सो गये होंगे। कौन जगाये, कल सुबह मिल लेना।" बहुत शिथिल-सी थीं—कमजोर! बोलीं—"अच्छा!" परन्तु मुझे पता नहीं था, आप अभी तक अकारण ही जागते होंगे अन्यथा...।"

मैं कुछ न बोला। वह कहती रही—"भाभी ने अक्सर, समय-समय पर, आपके सम्बन्ध में मुझसे बातें की हैं। शायद आप कविताएँ भी लिखते हैं। पत्रों में मैंने भी देखी हैं।"

"हाँ, लिखता हूँ, आत्म-सन्तोष के लिए।"

"बहुत सुन्दर लिखते हैं आप! सारी भावुकता उँडेल देते हैं। कवि के लिए 'प्रकृति पर्यवेक्षण' और 'कल्पना' कि आवश्यकता होती है और आप में..."

"पर भावुकता बुरी चीज है।"

"कवि और कलाकार के लिए नहीं। भावुकता कला के

लिए प्राण है।"

चुप रहा मैं। कैसी लड़की है!

"पहले दूध ले लीजिए।"—बोली और कुछ अपने में गुनगुनाती अन्दर गई। आलमारी खोली। पुस्तकें, पुस्तकें, पुस्तकें! मैं दङ्ग रह गया। यह पढ़ी भी है गूँगी लड़की? एक काव्य-पुस्तक मेरी ओर बढ़ा दी—'रेखा!' कोमल कान्त पदावलियों की मधुर सुधा पान कर, सन्तुष्ट हो, मैंने कहा—"बहुत सुन्दर रचना है।"

"सौभाग्य मेरा, आपको 'रेखा' पसन्द आई। इस वर्ष मेरे कॉलेज ने इस पर पाँच सौ रुपये का पुरस्कार भी दिया है।"

मेरे आश्चर्य की सीमा न रही। कह दिया—"पाँच सौ से कहीं अधिक इस कलाकृति का मूल्य है।...हाँ, आप अपने अर्थ को लेकर पूरी 'कविता' हैं।"

"मैं कविता नहीं हूँ, न हो सकती हूँ।"

"पर कविता-सी कोमल अवश्य हैं।"

भाभी, सत्तो इस वाक्य को सुन लज्जित अवश्य हो गई थी। उसका वह स्वरूप आज भी मेरे समक्ष है। उसने 'रेखा' की वह प्रति मुझे 'भेंट' लिख, दे दी थी। आज भी मेरे पास है वह! जब कभी तबीयत में आता है, पढ़ता हूँ, रस लेता हूँ।

× × ×

पाँचवें दिन की बात है, भाभी! बिस्तर पर उठ कर बैठते ही दृष्टि 'डेट-पैड' पर चली गई। जी में आया—आज मुझे

चल देना चाहिए।···परन्तु पीछे से मुझे कोई खींच रहा था। कह रहा था—"ऐसा आना भी क्या ? इससे तो न आते सो ही भला था।"

सुबह के कामों से छुट्टी पाकर जब मैं कुर्सी पर बैठा, तो घर से लगी हरी वाटिका के हिलते-डुलते वृक्षों पर मन अटक गया। कितनी सुन्दर वाटिका है !"

मुन्नू अङ्गरेजी का दैनिक पत्र देकर जाने लगा, तो पूछा—"भाभी क्या कर रही हैं ? और सत्तो ?"

"भाभी ?—भाभी अभी कुनमुना रही हैं। जीजी चाय बना रही हैं। खूब परेशान हैं। पहले स्टोव ही न जल रहा था और जब वह जला, तो जल्दी-जल्दी में दूध ही लुढ़का दिया। अब नौकर बाजार से दुबारा दूध लेकर लौटा है।"

"जल्दी की क्या बात थी ?"

"तुम्हारे जगने का भय लगा था कि कहीं चाय का समय न निकल जाय !"—इतना कह वह अन्दर दौड़ गया और उसी समय सत्तो चाय लाई। तपाक् से मैंने कहा—"आज बहुत देर हो गई है। चाय का समय तो···।"

"अभी चाय का समय नहीं निकला।"—अप्रतिभ हो वह बोली।

"खैर !"

अबूझ लड़की कुछ न बोली। उत्तर देने की बला से दूर रही। अपने अन्दर एक अज्ञेय पीड़ा समेट, भारी मन और

सूखी आँखों से देखती रही—देखती रही चुपचाप। जैसे यही चुप्पी मेरे प्रश्न का उत्तर हो।

"सत्तो, ऐ सत्तो!"—अन्दर से किसी की आवाज आई और वह आवाज के साथ ही अन्दर चली गई।

× × ×

उस दिन—

'रेखा' के कई गीत गुनगुनाता रहा। आज, एकान्त में उन गीतों का मूल्य—महत्त्व मैं भली भाँति समझ सका हूँ।

"विकल खोजता फिरता,
किन्तु न पाता उस कलिका को—
अलि, विकल खोजता फिरता!"

मुन्नू से पूछा—"क्यों रे, जीजी आज तेरी कहाँ छिप गई हैं?"

उसने सारा विवरण कह सुनाया—"मामा पड़ोस में रहते हैं। आज उनके यहाँ कोई काम-काज है, वहीं गई हैं।" भाभी, अभाव मनुष्य को बिगाड़ता है—मिट्टी में मिला देता है। उसी दिन मैंने यह अनुभव किया, एक-एक मिनट, एक-एक युग की तरह लम्बा हो सकता है। इसी बीच मुन्नू, सत्तो का एक पत्र लेकरआया। बोला—"जीजी ने दिया है।" वह पत्र आज भी मेरे पास सुरक्षित है।

सन्ध्या को उसे फिर वापस पाकर मैं निहाल हो गया था। लगा था, निधि मिल गई है। उसी दिन सन्ध्या को उसने

अपना नवीन चित्र और रूमाल दिया था, उस पर मेरा नाम लिखा था। पहले इस उपहार को रखने के लिए स्थान खोजता रहा…।

बात-चीत चली। उसने कहा—"आप डॉक्टरी पढ़ते हैं जरूर, पर वह बड़ा घृणित व्यापार है। हृदयहीन आदमी हो जाता है।"

"क्यों ?"

"मरते-मरते भी डॉक्टर, चाहे उसका रोगी कितना ही गरीब क्यों न हो, अपनी दवा का, अपने परिश्रम की दक्षिणा लेते नहीं चूकता।"

"सब के साथ यह बात लागू नहीं होती।"

"आप केवल अपनी सफाई दे सकते हैं, सब की नहीं। क्योंकि सब के विषय का मुझे काफी ज्ञान है।"

भाभी, उसकी वाक्-पटुता पर मुग्ध हुए बिना नहीं रह सका। सोचने लगा—"यदि ऐसी गृहिणी सब को मिल जाय, तो, दुनिया कैसी सुखी हो जाय !"

उस दिन जब मैं लौटने लगा, तो वह बहुत गम्भीर थी। रूप पर विषाद बिखरा पड़ा था। तुम्हारे सामने ज्यादा बातें करने का अधिकार उसे प्राप्त न था। कैसे वह खुल कर मुझ से बातें करती ? चलते समय जब मैंने उससे कहा—"सत्तो, मेरे यहाँ चलती है ? भाभी तो जाने से रहीं !"

कितना भीषण तूफान था उस क्षण उस नारी के अन्दर—

इसे मैंने अच्छी तरह समझ लिया था। धीरे से कह दिया--"नहीं, मैं नहीं जाऊँगी।" पर मैं सोचता हूँ, उसके अन्तर की सच्ची आवाज यह न थी।

आज मेरे एक मित्र ने पूछा भाभी--"अच्छा, डॉक्टर तुम विवाह क्यों नहीं करते ?"

क्या उत्तर देता उस नादान दोस्त को ? हँस दिया। कहा—"पागल हो तुम !"

भाभी, दैनिक 'मित्र' में परसों मैंने सत्तो को उसके पति विपिनचन्द्र आई० सी० एस० के साथ देखा है। पति-पत्नी के अभिनव रूप-विन्यास को देख मैं खिल उठा। जी में आया—सत्तो को शुभ-कामनाएँ एवं बधाइयाँ भेज दूँ। लेकिन अपना अधिकार न पा, मैं चुप रह गया। बहुत दिनों से मैंने उसे देखा नहीं भाभी ! हाँ चित्र भर देखा है। न जाने उसका आज का स्वरूप कैसा हो ? तीन साल पहले का उसका मेरे पास चित्र भी है। इन दो चित्रों में महान् अन्तर है। पिछले चित्र में वह अन्दर से हँसती-सी लगती है, बाहर से गूँगी। पर आज के चित्र में वह अन्दर से गम्भीर और बाहर सीमित है।

अमानिशा-सा अन्धकार इस समय मेरे अन्दर छा गया है। छुई-मुई-सी वह लड़की, आज तीन वर्ष बाद भी मेरे निकट है। उसका वह वाक्य तो मुझे भूलता ही नहीं—"हृदय को समझना वैसा सरल काम नहीं है। मानव के क्षण

प्रति क्षण के जीवन में, उसके तन्द्रिल मन के घाट पर, अनेक स्वप्न उतरते रहते हैं। कभी-कभी वह इस चेतन संसार से बहुत आगे निकल जाता है। अचेतन शरीर यहाँ देखने भर को रह जाता है। तब उस जाग्रतावस्था में भी उसे सोता हुआ ही समझना चाहिए।"

भाभी, मेरी ओर से सत्तो को, विवाह पर बधाई लिख देना। जो उत्तर आये, मुझे लिखना।

और कुछ भी लिखने को नहीं है।

तुम्हारा,

रविशङ्कर।

सितम्बर '४१

कलंक का टीका

गम्भीर रात्रि, सजग अन्धकार, चारों ओर गहरी शून्यता छायी थी। कलकत्ता शहर के एक छोर पर उस कच्चे मकान में धुँधला प्रकाश था जो रह-रहकर तेल की कमी के कारण अपनी साँसें तोड़ रहा था। कभी-कभी झींगुरों की झनकार रात्रि की निपट शून्यता को और भी भयानक बना देती थी।

घर के एक कोने में छोटी-सी टूटी चारपाई पर वह नन्हा-सा शिशु मचल-मचल पड़ता और कठिन, लम्बी बीमारी के कारण चीख-चीख, रो भी देता। कमजोरी और दुर्बलता के कारण वह ज्यादा रो भी नहीं सकता था। अजीब दशा थी उसकी। शरीर सूख कर काँटा हो गया था। आँखें धँस गयी थीं। अपना सम्पूर्ण आक्रोश वह पैर पटक-पटक कर ही व्यक्त कर देता। होंठ सूखे थे। हृदय की अग्नि ठण्डी हो रही थी, मानों उस माता के विशाल आसमान का प्रकाशवान शिशु-सूर्य धीरे-धीरे अस्तमित हो रहा हो, जिसे वह एकटक दृष्टि से, ठगी-सी, पागल की भाँति देख रही हो।

दवा-दारू के लिए पैसे न थे। अकाल केवल उसके घर में नहीं वरन् सारे बंगाल प्रान्त में छाया था। धर्म-भीरु जाने कहाँ चले गये थे। इस क्षण उसे भान हुआ—धर्म का अस्तित्व नहीं है। नियम-संयम आडम्बर और स्वांग हैं। ईश्वर स्वप्न

है। न्याय मजाक है। दुनिया में दीन और गरीब कीड़े-मकोड़े से भी गये बीते हैं।

वह नन्हा-सा शिशु चीख उठा। माता के हृदयाकाश में भय की बिजली कौंधकर रह गयी। पुचकार कर बोली—'मेरे लाल...!' आगे कुछ न कह सकी। कंठ भर गया। आँखें छलछला आयीं। हृदय को जैसे किसी ने पैनी छुरी से तराश दिया हो।

टप-टप-टप आँसुओं की बूँदें धरती पर गिरीं; गिरीं और शायद सूख गयीं। एक नये स्वप्न में उलझ गयी वह।

घर में आज ही क्या कई दिनों से खाने को नहीं है। अकाल के अतिरिक्त कालरा का भी प्रकोप था। उस दिन पुलिस वालों ने गन्दे, सड़े, खरबूजे शहर के बाहर फेंकवा दिये थे। उसने सुना और वहीं जा पहुँची। उसने देखा शहर में केवल वही नहीं, उस जैसी अनेक माताएँ हैं, बहुएँ हैं और स्त्रियाँ हैं, जो इन सड़े फलों को बटोरने के लिए एकत्र हैं और इन्हें कालरा का भय लेशमात्र भी नहीं है क्योंकि अकाल उस की महौषधि मौजूद है।

कई दिन उसने इन सड़े खरबूजों पर काट दिये। फिर दो दिन पानी पी-पी कर बिता दिये। परसों जब वह कहीं कुछ माँगने ही निकली थी, उसकी क्षुधा अपनी सीमा को पारकर चुकी थी और उसका चलना तक दूभर था। उस बच्चे को क्या दे, यह समझ में नहीं आ रहा था; क्योंकि उसकी आँखें

था। पीटने पर तुलता तो जान ले लेने पर आ जाता। इधर-उधर व्यर्थ घूमना उसकी दिनचर्या थी। पचीसों बार लड़ाई हुई। पत्नी कहती—'तुम जानवरों की जिन्दगी क्यों बिता रहे हो? कुछ करते-धरते क्यों नहीं? हट्टे-कट्टे होकर चार पैसे भी नहीं कमा सकते? तुमने हया-शर्म छोड़ दी है? आखिर तुम चाहते क्या हो, मैं कमाऊँ? मेरी क्या हालत देखना चाहते हो तुम?'

और आज वह सोचती है, मन में स्थिर करती है, ये तमाम बातें कहकर उसने बड़ी भूल की थी! होनहार होकर ही रहता है। उसे ये दुर्दिन देखने ही थे। कलङ्क का टीका लगाकर जीवित रहना भी क्या...?

और उसी दिन रात को उसका पति लापता हो गया था। उसने उत्तर में कहा था—'अच्छी बात है। अब तू मेरा काला मुँह नहीं देखेगी।'

महीनों कुछ पता न चला। उसका जीवन दूभर हो गया। वह सोचती—यह कलङ्क का टीका कैसे मिटाया जाय? अपने द्वारा किये गये पाप का प्रायश्चित कैसे हो? लेकिन कोई भी उपाय उसकी समझ में नहीं आता था।

एक दिन संध्या के समय दरवाजे पर बैठी कुछ सोच रही थी। मन भारी था, आँखें आर्द्र। सामने डाकिये को आते देख वह ललक उठी। प्रसन्नता फूट पड़ी, जैसे प्रभातकालीन

कोमल किरणें आकाश के वक्ष को चीर कर निकल आती हैं। बोली—'कोई चिट्ठी है क्या ?'

'हाँ, लामपर से आयी है'—कहकर पत्र डाकिये ने उसकी ओर फेंक दिया।

अतीत की स्मृतियाँ और स्वप्न एक क्षण उसकी अन्तरात्मा में नाच गये। पति के अन्तिम शब्द उसके भीतर गूँज उठे। एक गहरे सन्नाटे में वह आकण्ठ डूब गयी। कुछ भी तो उसे दिखलाई नहीं पड़ता था।

पत्र उसके पति का था। ब्योरा पढ़ कर वह रो पड़ी। एक ओर अकाल दूसरी ओर उसका पति लामपर, लड़ाई के मोरचे पर है। सरकार की सहायता कर रहा है। उसका परिवार, उसका प्रान्त और उसका देश अकाल की बीमारी से ग्रस्त है। ...आँसू बह चले उसकी आँखों से...'हा ! दुर्भाग्य !' लम्बी साँस के साथ वह बोल उठी।

"अब खर्च जल्दी ही भेजूँगा···"—उन्होंने लिखा है।

उसका विद्रोह अन्दर-ही-अन्दर भड़क रहा था। वह सोच रही थी—क्या वे मेरा काला मुँह लौटकर देख सकेंगे ?

कई दिनों के उपवास ने अकाल के कारण उसे अधमरी बना दिया था।

[३]

सैनिक-न्यायालय में उसकी कई दिनों से पेशी हो रही है। अधिकारियों का कहना है—'अभियुक्त ने युद्ध के मैदान में,

'ब्लैक-आउट' होते हुए भी प्रकाश करके पत्र पढ़ने की जुर्रत की है, यह न्याय-विरुद्ध है। यदि शत्रुपक्ष को इस प्रकाश का किञ्चित् भी भेद लग जाता तो पूरी फौज की जो दशा होती, उसकी सहज ही कल्पना की जा सकती है। ऐसे अभियुक्तों को प्राणों की भिक्षा देकर छोड़ना ऐसे कार्यों को प्रोत्साहन देना है। कानून, कानून है। फौज में भूख मिटाने की भिक्षा मिल सकती है, न्याय की और प्राणों की भिक्षा नहीं।'

अभियुक्त तना खड़ा था, वैसे ही खड़ा रहा।

न्यायाधीश ने पूछा—'तुम्हें कुछ कहना है ?'

'कुछ नहीं।'

'तुम्हें अपराध स्वीकार है ?'

चुप।

'तुम्हें कौन सजा दी जा रही है, मालूम है ?'

एक गहरा सन्नाटा। विद्रोह की रेखा उस नौजवान के मुख पर थी।

सन्तरी को अभियुक्त की अन्तिम बार तलाशी लेने की आज्ञा दी गयी। उसके पास कुछ भी न था। न्यायाधीश ने कहा—'अरे ! वह देखो, उस जेब में क्या है ?'

एक कागज का टुकड़ा था। उसमें हिन्दी में लिखा था। न्यायालय के हिन्दी जानने वाले जज ने उस पत्र का अङ्गरेजी में अनुवाद कर दिया।

'युद्ध के मैदान में इस पत्र को पढ़ना, उस रात में कतई आवश्यक न था।'—न्यायाधीश ने गुर्राते हुए कहा।

'मैं मजबूर था।'—अभियुक्त ने तनकर कहा।

'इसे गोली से उड़ाने की आज्ञा यह अदालत देती है।'—न्यायाधीश ने कहा।

'सहर्ष स्वीकार है!'

[४]

पत्र में लिखा था—'तुम नाराज होकर घर से भाग गये, कलङ्क का यह टीका मैं कैसे धोऊँगी, मेरी समझ में नहीं आता। यहाँ सैकड़ों आदमी भूख से मर रहे हैं। लाशें सड़कों पर सड़ा करती हैं। लड़के-बच्चे दो-दो रुपये में बिक रहे हैं। मेरे घर में कई दिनों से खाने को नहीं है। वही पतित-पावन भगवान् जानते हैं, अकाल के दिनों में मैं कैसे गुजर-बसर करती हूँ। कपड़े पर कन्ट्रोल है, वह भी नहीं मिलता। चिथड़े लपेटे रहती हूँ। इज्जत की रक्षा कर रही हूँ। मुनुआँ घुट-घुटकर मर गया। पैसे के अभाव में एक धेले की दवा भी न कर सकी। पहले का हँसता-खेलता शहर अब श्मशान बन गया है। भूख से तड़प-तड़प कर मैं भी मौत के मुँह के पास आ गयी हूँ। तुम फौज में जाकर 'लफटएट' नहीं, लाट हो जाओ, मेरे लिये बेकार हैं।'

जून '४५

विसर्जन

सत्य उस दिन कुछ परेशान-सा था। सुबह की चाय पीकर, हाथ में एक नोटबुक ले, वह घर से बाहर निकल पड़ा। आलस्य उस दिन उसका पीछा नहीं छोड़ना चाहता था। न काम करने को जी चाह रहा था, न पुस्तक के पन्नों में अपने आपको वह भुला ही सकता था। मित्रों के बीच बैठ, उनसे बातचीत करने का भी उसका 'मूड' न था। लाट्ठशरोड से मालरोड जाते समय, [illegible]-पुस्तकालय के पास जो एक सुन्दर रेस्टोराँ है, बस, वह उसी में बैठ गया। रेडियो सुनता रहा। कई सिग-रेटें फूँक डालीं। आसपास माचिस की सींकें बिखरी पड़ी थीं। चाय पीते समय धुएँ के उड़ते हुए तारों को गौर के साथ देख, सोचने लगता—यह जो धुआँ यहाँ, इस प्रकार, उड़ रहा है, इसके अन्दर भी जीवन का कोई तथ्य है या नहीं? क्या बस इसे उड़ना-ही-उड़ना प्राप्त है, स्थिरता इसके लिए आकाश-कुसुम जैसी वस्तु है। क्या इसकी गति में कोई रहस्य, कोई भावना है ही नहीं? और यदि है, तो वह क्या है?

चाय समाप्त हो चुकी है। बॉय ट्रे ले जा चुका है। पान की गिलौड़ियाँ मुँह में आ चुकी हैं और सिगरेट मुँह में लगी, आधी से अधिक जल चुकी है। उसके छोर पर राख जमा हो गई थी, सो उसने अपनी उँगली से गिरा दिया है।

कश, और धुएँ के तार फिर चारों ओर फैल गये हैं।

तो क्या यह धुआँ व्यर्थ ही, पक्षी की भाँति, इधर-उधर दौड़ता रहता है ? और पक्षी के निकट भी दौड़ने का अपना एक उद्देश्य होता है······

अपनी भाषा में यह भी कुछ कहना जानता है, या मूक बनकर, केवल इधर-उधर डोलते रहने में ही इसे सन्तोष मिल जाता है ?

धुएँ के तार जब ऊपर उठ अदृश्य हो जाते हैं, तब वह इत्मीनान से दूसरा कश ले लेता है और धुएँ के बादल एक बार फिर उसके चारों ओर छा कर रह जाते हैं।

सत्य इस धुएँ को समझ नहीं सका है।

सत्य अपने जीवन ही को कब समझ सका है, कतई नहीं समझ सका है। और यदि जीवन समझ ही लिया जाय, तो उसकी गुरुता का महत्व ही क्या ?

कुछ समय पश्चात् !

बॉय ने आज्ञानुसार चाय की दूसरी ट्रे सामने रख दी है। यह 'मिल्क पॉट' है, यह 'सुगर पॉट' और चम्मच से देखा चाय का रङ्ग हल्का है। गहरा बादामी रङ्ग उसे चाहिए। कम चाय डाली गई है, अतः थोड़ी-सी और चाय छोड़ने की आज्ञा कर दी है।

सत्य डाक्टरी पढ़ रहा है। मुर्दे चीरते-चीरते, कभी-कभी, उसकी तबीयत ऊब उठती है। अपने पेशे से उसे घृणा होने

लगती है। तब बेचारा वह उलझ जाता है। आकर्षण के अन्दर उसे विरक्ति दिखलाई पड़ती है। तब नारी का आत्म-समर्पण, वैभव........

और ?

सब झूठ है, झूठ, झूठ !

भीगी और कुछ कहती हुई-सी आर्द्र पलकें ! भाभी के मायके गया था सत्य ! विवाहोत्सव से घर खिल उठा था। मङ्गल-गीत उसे अत्यधिक प्रिय लगे थे। बहुत-सी लड़कियाँ आई थीं। उन्होंने सत्य को अच्छी तरह, ध्यानपूर्वक देखा था। आपस में बातें की थीं उन लोगों ने।

घर से बाहर आते समय सत्य ने सुना—खिल-खिल के साथ—"अरी, ओरी वासन्ती, देख न, यह तो निरा बोलना ही नहीं जानते !"

"शहर के लड़के हैं। देहाती लड़कियों से क्या बोलें ?"

और सत्य सचमुच शरमा गया था। उस क्षण, मुड़कर, देखने की शक्ति उसमें न थी। उसे ऐसा लगा था, मानों किसी ने उस पर इतना भारी बोझा रख दिया हो कि वह एक क़दम भी चलने में असमर्थ हो। शिथिल मन से वह घर के बाहर लगे वट-वृक्ष की शीतल छाया में बैठ गया। मन-ही-मन सोच कर हँस भी पड़ा—"देहाती लड़कियों ने उसे मात दे दी !"

तब उसने दृष्टि उठाई। पड़ोस में एक दूसरा टूटा-सा मकान है। उसकी चहारदीवारी में एक टूटी-सी पुरानी खिड़की

कश, और धुएँ के तार फिर चारों ओर फैल गये हैं।

तो क्या यह धुआँ व्यर्थ ही, पत्ती की भाँति, इधर-उधर दौड़ता रहता है ? और पत्ती के निकट भी दौड़ने का अपना एक उद्देश्य होता है······

अपनी भाषा में यह भी कुछ कहना जानता है, या मूक बनकर, केवल इधर-उधर डोलते रहने में ही इसे सन्तोष मिल जाता है ?

धुएँ के तार जब ऊपर उठ अदृश्य हो जाते हैं, तब वह इत्मीनान से दूसरा कश ले लेता है और धुएँ के बादल एक बार फिर उसके चारों ओर छा कर रह जाते हैं।

सत्य इस धुएँ को समझ नहीं सका है।

सत्य अपने जीवन ही को कब समझ सका है, कतई नहीं समझ सका है। और यदि जीवन समझ ही लिया जाय, तो उसकी गुरुता का महत्व ही क्या ?

कुछ समय पश्चात् !

बॉय ने आज्ञानुसार चाय की दूसरी ट्रे सामने रख दी है। यह 'मिल्क पॉट' है, यह 'सुगर पॉट' और चम्मच से देखा चाय का रङ्ग हल्का है। गहरा बादामी रङ्ग उसे चाहिए। कम चाय डाली गई है, अतः थोड़ी-सी और चाय छोड़ने की आज्ञा कर दी है।

सत्य डाक्टरी पढ़ रहा है। मुर्दे चीरते-चीरते, कभी-कभी, उसकी तबीयत ऊब उठती है। अपने पेशे से उसे घृणा होने

लगती है। तब बेचारा वह उलझ जाता है। आकर्षण के अन्दर उसे विरक्ति दिखलाई पड़ती है। तब नारी का आत्म-समर्पण, वैभव.........

और ?

सब झूठ है, झूठ, झूठ !

भीगी और कुछ कहती हुई-सी आर्द्र पलकें ! भाभी के मायके गया था सत्य ! विवाहोत्सव से घर खिल उठा था। मङ्गल-गीत उसे अत्यधिक प्रिय लगे थे। बहुत-सी लड़कियाँ आई थीं। उन्होंने सत्य को अच्छी तरह, ध्यानपूर्वक देखा था। आपस में बातें की थीं उन लोगों ने।

घर से बाहर आते समय सत्य ने सुना—खिल-खिल के साथ—"अरी, ओरी वासन्ती, देख न, यह तो निरा बोलना ही नहीं जानते !"

"शहर के लड़के हैं। देहाती लड़कियों से क्या बोलें ?"

और सत्य सचमुच शरमा गया था। उस क्षण, मुड़कर, देखने की शक्ति उसमें न थी। उसे ऐसा लगा था, मानों किसी ने उस पर इतना भारी बोझा रख दिया हो कि वह एक क़दम भी चलने में असमर्थ हो। शिथिल मन से वह घर के बाहर लगे वट-वृक्ष की शीतल छाया में बैठ गया। मन-ही-मन सोच कर हँस भी पड़ा—"देहाती लड़कियों ने उसे मात दे दी !"

तब उसने दृष्टि उठाई। पड़ोस में एक दूसरा टूटा-सा मकान है। उसकी चहारदीवारी में एक टूटी-सी पुरानी खिड़की

है। काले रंग से पोत दी गई है। दो आँखें उसीसे झाँक रही हैं। शायद कुछ कह भी रही हैं। पर इस भाषा में निहित वासन्ती के मनोभावों को वह अच्छी तरह न पढ़ सका। हाँ, केवल वह इतना भर जान सका, वासन्ती उसे निरा, बिलकुल परदेशी नहीं समझती है। वह उसे अपने निकट का भी मानती है। ऐसा वह क्यों करती है, यह प्रश्न भी सत्य के निकट कई बार उलझन में डालने को आ उपस्थित हुआ है।

सत्य गुमसुम-सा, अवाक्-सा, बैठा ही रहा।

"आपकी चाय ठंडा रही है।"—विनोद ने कहा।

"चाय पीने को जी नहीं करता।"

"क्यों?"

"ऐसे ही!"

"आप तो शायद इसके आदी हैं। जीजी कहती हैं— बिना चाय पिये उन्हें चैन नहीं पड़ती, बुखार तक आ जाता है।"

"हाँ, यह बात ठीक हो सकती है।"

"तो, आप यहाँ, मेरे घर, निमन्त्रण में आये हैं। घर की शोभा बढ़ाने, न कि इसे अस्पताल बनाकर सबको परेशान करने! चलिए तो सही, अपनी चाय पीजिए। जिद अच्छी नहीं होती!"—वासन्ती की इन तमाम बातों को सुनकर सत्य एक बार फिर भीरु, कातर हो गया। लड़की उसके पीछे पड़ी है। और इतना अधिकार क्योंकर वह पाती है, प्रकट करती है सत्य के ऊपर?

सत्य इस वासन्ती में अपना कुछ खो रहा है ?

सत्य आग्रह और सत्कार को, किसी प्रकार भी, नहीं टाल सका ।

कमरे में बैठा वह चाय पी रहा था। भाभी ने कहा—"छोटे बाबू, वासन्ती सब लड़कियों से अधिक तुम्हें प्यार करती है। कई बार मुझसे कह चुकी है—परमात्मा करे, मुझे सत्य-जैसा ही वर मिले।"

बगल में खड़ी वासन्ती का चेहरा सूख गया, मानो किसी हरे-भरे वृक्ष पर बिजली गिर पड़ी हो।

सत्य भी अपने अन्दर कुछ गुनगुना कर रह गया।

और तब, एक क्षण भी, वासन्ती वहाँ नहीं टिक सकी।

सन्ध्या समय विनोद को साथ लेकर वासन्ती अपनी वाटिका की ओर चल पड़ी। मटमैला-सा अन्धकार छाने लगा था। वासन्ती ने रास्ते में विनोद से पूछा—"क्यों रे, तू सेवा करना जानता है ?"

"हाँ, बहुत, बहुत, जीजी !"

"बता तो सही, तूने खरबूजे और लीची सबको पहुँचा दी थीं ?"

"नहीं जीजी, आज माफ कर दो, मैं भूल गया था ?"

"और कलकत्ते के सत्य बाबू को भी नहीं......?"

"किसी को भी नहीं जीजी !......अभी लौटकर......"

सत्य वहीं वाटिका में टहल रहा था। वासन्ती को क्या

पता था कि वह भी यहीं टहलने आया है। फिर भी वह दृढ़ बनी रही। लेकिन भाभी की बात से उसका मन लज्जित हो उठा था। वह अब सत्य के सामने बराबर न देख सकती थी और न स्वयं सत्य ही......

"अरे ! सत्य भैया !!"—विनोद ने आश्चर्य के साथ कहा।

"क्यों, क्या पागल हो गया है ?"

"नहीं भैया, मैं समझ रहा था, आप और कहीं टहलने गये हैं।"

"यदि चला जाता, तो ?"

"तो क्या ? कुछ भी नहीं !"—कहकर वह एक ओर चल पड़ा।

इस बार वासन्ती ने तन्द्रिल-नेत्रों से सत्य को देखा ! देखा—वह अपने आप में वासन्ती का कुछ छिपाये हुये है और उसका वह छिपाना उससे किसी प्रकार भी अप्रकट नहीं है। जैसे वह कह रहा हो—"वासन्ती, तुम दूर होकर भी मेरे निकट हो।" और प्रायः आध घंटे तक बातचीत हुई। वासन्ती ने पूछा—"आप कलकत्ते कब जा रहे हैं ?"

"कल जाने का विचार है।"

"ओह। इतनी जल्दी ?"

"यहाँ अच्छा भी तो नहीं लगता।"

वासन्ती गुमसुम बनी रही।

घना अँधेरा होने लगा। सभी घर की ओर चल पड़े।

दूसरे दिन सत्य कलकत्ते के लिए रवाना हो गया। उसके

बिस्तर और सूटकेस सवारी पर रख दिये गये। भाभी के साथ बहुत-सी लड़कियाँ, दरवाजे तक, उसे विदाई देने आईं। वह अन्दर की आँखों से सबको देखता रहा! भाभी ने मजाक में कहा—"इनमें से कोई पसन्द है? एक-आध को लेता जा न, सत्य।"

वह मुस्करा पड़ा।

"कोई नहीं?"

"कैसी पगली हो भाभी?"

"अच्छा, वासन्ती को ही लेता जा!"

सत्य संकोच भाव से, वासन्ती की ओर देखता भर रह गया। अपने मन की गहरी व्यथा को अप्रकट न रख सका।

और वासन्ती की आँखों में आँसू चुहचुहा आये। चेहरे पर गम्भीरता। वह शक्तिहीन-सी हो गयी।

भाभी ने और भी बनाया—"ले, वह तेरे साथ जाने को तैयार है।"

और सत्य स्टेशन की ओर चल पड़ा।

दिन बीतते गये।

सत्य उस लड़की को किसी प्रकार भी अपने अन्दर से नहीं निकाल सका। पुस्तक के पन्नों में उसका जी टिकता न था। मरीज को देखते-देखते वह परेशान हो जाया करता। उस दिन उसने एक नारी का "ऑपरेशन" किया था। वासन्ती उस

के अन्दर से झाँकती-सी लगी थी। बीच में दूसरे डाक्टर से बोला—"आप मेरी मदद कीजिये।"

और ?

भाभी के लिए उपहार भेजा था। वासन्ती के लिए भी कई चीजें भेंट में गई थीं। वासन्ती ने उन्हें लज्जा के साथ स्वीकार कर कुछ सोचा था। तब अपने और सत्य के बीच की दूरी को नापने की भावना उसके अन्दर जाग उठी थी। रोज-रोज उस साड़ी को देखती। देखती—बेल-बूटे अच्छे बने हैं। कीमती चीज है। पक्का ज़री का काम जार्जेट की नीली साड़ी पर है।

और भाभी ने उत्तर में धन्यवाद देते लिखा—"वासन्ती ने भेंट स्वीकार कर ली है। नमस्ते कहती है..." आगे पक्तियों में लिखा था-"वासन्ती का विवाह अगले मास एक बैरिस्टर से होने जा रहा है। इस अवसर पर तू आयेगा ही!"

अप्रसन्न-सा हो उठा सत्य। एक भारी उचाट उसे परेशान किये था। विवश होकर वह सोचने लगता—जो कुछ उपलब्ध है, उसी को लेकर क्यों न संतोष किया जाय ? दुनिया के प्रलोभनों में अपने आपको डाल रखना भी कम मूर्खता नहीं है।

विवाह के अवसर पर वह नहीं गया। लेकिन उसने यह जरूर सुना—मि० कुमार विवाह के पश्चात् विलायत जाने वाले हैं। वहाँ वे विशेष योग्यता प्राप्त करेंगे। जाने के एक दिन पूर्व रात्रि में वासन्ती रोई थी। उसके आँसू थमते न थे।

कुमार ने समझाते हुए कहा था—"ऐं! यह पागलपन कैसा वासन्ती! समझ से काम ले।"

"......"

"देख, एक साल में मैं लौट आऊँगा। पत्र लिखता रहूँगा। समय जाते देर ही कहाँ लगती है?"

और वहाँ जाकर कुमार वासन्ती को बिलकुल भूल गये हैं। एक वर्ष हो चुका है, पर उसके पास एक पत्र भी नहीं आ सका है। उनके आने, लौटने की भी अभी सम्भावना नहीं है। वासन्ती का हृदय कुरेद रहा है।

दिन आँधी की भाँति, स्वच्छन्द पक्षी की भाँति उड़ते जा रहे हैं।

सत्य अब बहुत अंशों में वासन्ती को भूल गया है। एक धुँधली-सी अस्पष्ट स्मृति भर है।

और वासन्ती की दशा दिन-दिन गिरती जा रही है। टी० बी० उसे है। शरीर क्लान्त हो गया है। प्रतिक्षण उसके नेत्रों में आँसू बने रहते हैं। वह दुनिया को देख जल उठती है। पुरुषों से उसे घृणा हो चली है। लेकिन अब भी जब-तक भाभी की चुहल, सत्य का चित्र और उसके अन्तर का स्नेह उसे घण्टों तक सोचने के लिए विवश कर देता है। उस जीवन में कितना आनन्द था, वासन्ती यह सोचकर पछताने लगती है।

पेट के अन्दर फोड़ा हो गया है। इधर दस दिन से उसने अन्न त्याग दिया है।

सत्य सरकारी अस्पताल में सर्जन का काम कर रहा है।

वासन्ती अस्पताल में भरती करा दी गई है। उसके सिर के ऊपर एक चार्ट लटक रहा है। गहरी उदासी उसे यहाँ घेरे हुए है।

कल उसके पेट के फोड़े का "ऑपरेशन" होगा।

वासन्ती को अब अधिक जीवित रहने की आशा नहीं है। उसके अन्दर जो अन्धकार छाया है, प्रकाश की कोई किरण उसे दूर नहीं कर सकती।

'ऑपरेशन थियेटर' में—

वासन्ती का चेहरा सूख गया है। शरीर लकड़ी की भाँति······

उसका सारा उत्साह, आनन्द इस संसार से दूर हो गया है।

वासन्ती बेहोश कर दी गई है।

सर्जन सत्य ने उसे इस अस्पताल में आज ही देखा है। उसके सारे शरीर में कम्पन हो आया है। स्मृतियाँ एक-एक कर उसके मस्तिष्क में घूम गईं। वासन्ती में अनायास ही ऐसा परिवर्तन !

तब उसका हृदय बैठने-सा लगा।

'क्लोरोफार्म' से उसे बेहोश किया।

दूसरे डाक्टर ने चाकू चलाया।

एक चीख !

"अरे !"—डाक्टर ने असहाय होकर कहा।

लाश वहीं पड़ी थी। फोड़े का जहर पूरी तरह फैल चुका था।

सत्य फूट-फूटकर रो उठा। अपने रूमाल से आँखें ढकते हुए उसने कहा—"सब कुछ खत्म हो गया। अब आप लाश ले⋯⋯।"

सत्य ने हत्या की है, एक नारी की, बार-बार उसके जी में यही आता रहता है।

भाभी ने उस दिन सत्य से सारा रहस्य कह सुनाया। विवाह के पश्चात् वासन्ती के पति विशेष योग्यता हासिल करने के लिए विलायत गये थे। पत्र आदि देने का वादा कर गये थे। पर वहाँ जाते ही वह उसे भूल गये। एक वर्ष पश्चात् उन्होंने अपने परिवार से सम्बन्ध-विच्छेद कर लिया। पत्र द्वारा सूचित किया, अब वे भारत नहीं आवेंगे। वहीं रह कर अपना काम करेंगे। वासन्ती के लिए उन्होंने खेद प्रकट किया था। पत्र में कहा था—"वह यदि चाहे तो दूसरा विवाह कर सकती है।"

उसी दिन से वासन्ती की हालत बिगड़ती गई।

सत्य इसके आगे और कुछ भी नहीं सुन सका। एक दीर्घ निःश्वास छोड़कर वह अपने कमरे के अन्दर गया और बासन्ती के चित्र को देख एक बार फिर फूट-फूटकर रो पड़ा।

अगस्त' ४०

प्रत्यागमन

तब रमाकान्त के बड़े-बड़े नेत्रों में आँसू छलछला आये और निदारुण दुःख के आघात ने उसके गले को अवरुद्ध कर दिया। खाते-खाते सोचने लगा—सचमुच ही किसी के साथ, किसी का कोई सम्बन्ध नहीं है। व्यर्थ का भार कौन सँभाले? परिवार, भाई-भौजाई विडम्बना हैं, प्रवञ्चना! यहाँ मेरा शरीर ही मेरा अपना साथ नहीं देता, तो दूसरे की क्या बिसात?

हाथ का कौर हाथ ही में रह गया। थाली का अवशिष्ट भोजन उसे काटने-सा लगा। जीवन के अनेक चित्र उसके समक्ष अट्टहास कर, प्राचीर से टकरा-टकरा कर, स्वच्छन्द वायु के अबाध प्रवाह में उड़ने-से लगे। आज रमाकान्त का घर में रहना भाभी को अखरता है? उसका चेहरा देख कर वे परेशान-सी होने लगती हैं। भृकुटी चढ़ जाती है। वह उठने का उपक्रम करता हुआ, रसोईघर में बैठी भाभी की वक्र दृष्टि को लक्ष्य कर बोला—'खाने को जी नहीं चाहता भाभी। बस, अब नहीं खा सकूँगा।'

भाभी रणचण्डी की तरह तिनक कर बोलीं—'हाँ, पढ़े-लिखे लड़कों को होटल के भोजन के आगे, घर में पकाया हुआ रूखा-सूखा अन्न काहे को रुचेगा?...लेकिन छोटे बाबू जब पैदा

करोगे, तब आटे-दाल का भाव मालूम हो जायगा। तब, इस प्रकार, भोजन भी बरबाद होने के लिए नहीं छोड़ोगे। अभी, भाई की कमाई है, सो जो चाहो करो!'

रमाकान्त का जी इन तमाम बातों को सुन कर भर आया और ऊबने सा लगा। क्रोधावेश में वह हाथ-मुँह धोकर ज्योंही बाहर जाने लगा कि भाभी ने त्योंही, तपाक से, पूछ दिया—'नौकरी-चाकरी की कहीं तलाश की?'

'आज, दिन भर घूमते-घूमते परेशान हो गया भाभी, लेकिन कहीं भी कोई नौकरी···'—इतना कह कर वह चुप हो गया। चुप इसलिए नहीं हो गया कि उसे चुप हो जाना ही चाहिये, बल्कि चुप इसलिए हो गया कि उसमें अपने आप को सँभाल लेने की ताकत नहीं थी। नेत्र डबडबा आये उसके। जब वह सोने के लिए, ऊपर छत पर जाने लगा, तब उसकी भाभी का कर्कश-स्वर एक बार पुनः गूँज उठा—'नौकरी की टोह में रहते ही कब हो? तुम्हें अपने मित्रों और घूमने-घामने से ही छुट्टी नहीं मिलती···।'

नवयुवक रमाकान्त के जिस पाषाण-सदृश मजबूत हृदय को भीषण प्रलय का भयङ्कर अघात भी नहीं विचलित कर सकता था, वह इस नारी के वाक्य-बाणों से ऐसा चूर-चूर हो गया कि भविष्य में उसके जुड़ने की कोई आशा न रह गई।

अपने बिस्तर पर लेटे-ही-लेटे वह जीवन की अस्थिरता पर विचार करता हुआ सुन्दर आसमान की ओर देखता

रहा। आकाश स्वच्छ था। तारिकाएँ चमकने लगीं। चारों ओर विराट् शून्य। बीड़ी सुलगाई। दो-एक कश लिये। उसे याद हो आया, उस दिन कितनी भयानक रात्रि थी। वायु के प्रचण्ड वेग से सारा शहर हिलडुल रहा था। घनघोर वर्षा हो रही थी कभी-कभी ऐसा प्रतीत होता था कि बिजली अब गिरी। झिल्लियों की झीनी झनकार शहर के कोने-कोने में व्याप्त थी। बड़े भाई का पुत्र देव अपनी रोग-शैया पर लेटा जीवन-मृत्यु के झूले में झूल रहा था। शहर के सभी वैद्य-डॉक्टरों ने जवाब दे दिया था—'अब आप इस बच्चे को यदुनाथ पंडित को दिखाइए।'

'यदुनाथ को ?'—भाई ने मुँह पर हाथ रख, आश्चर्यपूर्वक कहा। फिर मन ही मन गुनगुना कर बोले—'किन्तु, ऐसी भयानक रात्रि में सघन जङ्गल को पार कर शहर से तीन मील कौन जाय ? मेरी तो हिम्मत नहीं है।'

बगल में खड़ा रमाकान्त बोल उठा—'आप क्या कहते हैं बड़े भैया ? क्या मेरी जान इस देव से बढ़ कर है ? मैं अभी-अभी लाता हूँ यदु को। आप बिलकुल धीरज न खोयें। और भाभी, तुम इस तरह व्यर्थ ही रोती हो! रोने-धोने से क्या लाभ होगा ?—'हानि, लाभ, जीवन-मरन, जस-अपजस-बिधि हाथ।'

और तुरन्त ही वह घर से बाहर निकल आया था। पैरों के ऊपर तक भरे पानी को चीरता, जङ्गली जानवरों की परवाह न कर, वह थोड़े समय में ही यदु पण्डित को ले आया था।

यद्यपि उस समय वे आने में आनाकानी कर रहे थे, परन्तु रमाकान्त के आग्रह को नहीं टाल सके थे।

यदु पण्डित ने देव की नाड़ी देख कर कहा—'हालत अच्छी नहीं है। किन्तु दवा दिये देता हूँ, परमेश्वर मालिक है।'

जहाँ ऐसा प्रतीत होता था कि देव की हालत अब नहीं सुधर सकती, वहाँ ईश्वर की कृपा से वह प्रति क्षण सँभलने लगा।

प्रातः काल था। पक्षी कलरव करने लगे। आसमान पर बादलों का भीषण अट्टहास हो रहा था। यदु ने कहा—'अब बालक ठीक हो जायगा। दवा दिये जाता हूँ, सो देते रहना। जरूरत पड़ने पर फिर आ सकूँगा।'—और अपने घर को चल दिये थे।

भाभी रमाकान्त की दृढ़ता एवं निर्भीकता पर हर्ष प्रकट करती हुई, जो कमरे में गई तो उसे ज्वराकान्त पाया। चेहरा तमतमा रहा था। दवा-पानी का प्रबन्ध कर, अतिशय ज्वर-सन्तप्त मस्तक पर हाथ फेरती बोली—'छोटे बाबू, अगर कल तुम न होते तो······। ····ईश्वर हो गये!'

'क्या किसी दूसरे का काम था भाभी? पागलपन की बातें न किया करो मुझसे। मेरा देव मेरे जीवन से अधिक प्यारा है।'

भाभी मौन, गद्‌गद् भाव से खड़ी रहीं।

❀ ❀ ❀

किन्तु परिवार की सेवा के बदले में उसे अपमान, घृणा और निरादर मिला। वह शोकविह्वल हो छत पर टहलने लगा। जी में आया—आज ही घर त्याग कर अन्यत्र चला जाय! वहाँ सुख से दिन तो कटेंगे? यह भाभी की रोज की हाय-हाय, खाँय-खाँय उसे सहन नहीं! हाँ, और क्या, अपमान लेकर जीना भला नहीं, किन्तु मान सहित मर जाना भला है।

उसके नेत्र अब भी व्यथा के आँसू बहा रहे थे। वह रोते-रोते थक हो गया था।

अच्छा अब रमाकान्त कल ही, कल नहीं, आज ही और इसी समय इस घर को, इस शहर को अन्तिम नमस्कार कर कलकत्ते को चला जायगा।

❀ ❀ ❀

नित्य प्रति की भाँति भाभी, तड़के उठकर, अपने कार्य में जुट गईं। सूर्य भगवान ताड़ और आम के वृक्षों को चीर कर ऊपर जा पहुँचे। सड़कों पर चहल-पहल! महरी आई और अपना कार्य समाप्त कर जाने को हुई कि भाभी ने रोक कर कहा—'देखो न अभी तक सो ही रहे हैं? क्या कर सकते हैं ये अपनी जिन्दगी में। इसी तरह भाई की कमाई को बरबाद करते रहेंगे।'

'अच्छा!'—कह कर महरी ऊपर गई। देखा—छोटे बाबू नहीं हैं।

घर में कोहराम मच गया। भाई नौकरी से लौटे तो पत्नी पर क्रोध उतारने लगे। यद्यपि रमाकान्त के खो जाने का भय न था तथापि मनुष्यता के नाते 'वह कहाँ चला गया?' यह जानना भी परमावश्यक था। देव अपने चाचा के लिए व्याकुल भाव से रोता था। चिल्ला-चिल्ला कर कहता था—'मैं उन्हीं के साथ रहूँगा।'

'चुप! रोता है? आ जायगा चाचा भी।'—पिता ने डाट कर कहा!

रमाकान्त के भाई ने शहर भर छान डाला, किन्तु उसका कहीं भी पता-निशान न मिल सका।

रमाकान्त इस शहर से बिलकुल अपरिचित है। हाथ-मुँह धो, निश्चिन्त होकर सोचने लगा--धर्मशाला में उसे केवल तीन दिन ठहरने की ही अनुमति मिली है। तदनन्तर उसे धर्मशाला खाली कर देना होगा। इसलिए अच्छा यह होगा, एक सस्ती-सी कोठरी किराये पर ले ली जाय। किन्तु सच तो यह है, जिस मनुष्य के पास एक धेला भी खर्च और खाने के लिए नहीं है, जो व्यक्ति रास्ते में कई बार धनाभाव के कारण ट्रेन से उतारा जा चुका है, वह एक कोठरी लेकर इस सुन्दर नगर में रह ही कैसे सकता है?

सोच-विचार करने के पश्चात् उसने चार रुपये की एक कोठरी तय कर ली। उस मकान के मालिक एक अतिशय वृद्ध, श्वेतकेशी महाशय रमाकान्त की शिष्टता से अत्यधिक

प्रभावित हुए। मन-ही-मन सोचने लगे—'उनका रतन भी ऐसा ही था। इसी तरह बोलता, इसी प्रकार हँसता और उसका भी ऐसा ही रङ्ग-रूप था। अच्छा है, मैं इसी को देख......'

'आपके साथ पत्नी भी है ?'

'जी नहीं, मैं अकेला, एकदम से अकेला हूँ।'

'इसका मतलब ?'

'इसका मतलब यही कि बस एक मात्र ईश्वर ही मेरे साथ है।'

'अच्छा तो आनन्द से रहिए।'

× × ×

एक, दो, तीन, चार !

इसी प्रकार कलकत्ते की विशाल सड़कों पर घूमते हुए उसके कई दिन बेकार चले गए। उसको कहीं भी नौकरी नहीं मिली। 'नो वेकेन्सी'-'नो वेकेन्सी' सुनते-सुनते उसका दिल भर गया। चेहरा सूख कर छोटा हो गया। पैसे खर्च हो जाने के मोह से उसने बाल नहीं बनवाये। फलतः उसकी दाढ़ी घनी हो गई थी। गन्दे कपड़ों से ही काम चला रहा था। रात को थक कर, घूम-घाम कर लौटता तो चुपचाप जमीन पर बिस्तर लगा कर सो जाता। यद्यपि उसने पाँच रुपये का एक ट्यूशन पा लिया है; किन्तु इस रकम से जीवन-निर्वाह नहीं किया जा सकता ! इसीलिए वह केवल दो पैसे के चने से ही

अपनी उदर-पूर्ति करता है। अखबार पढ़ने का शौक है, सो भी बन्द किये हुए है या किसी पुस्तकालय में चला जाता है। ग़रीबी के दिन बिता रहा है।

दिन पंख लगा कर उड़ गए। महीना पूरा हो गया। अब किराये की समस्या एक विचित्र रूप में आ उपस्थित हुई। सोचने लगा—आखिर अब किराया किस प्रकार दिया जायगा?

रात्रि को प्रायः दस बजे रमाकान्त लौटा। आज सारा दिन उसने नौकरी खोजने में लगा दिया था। इसलिए दो पैसे के चने भी नहीं ले सका। झुँझला कर रात्रि को भोजन न करने की बात ठान ली। पानी पीकर आज रह जायगा। याद आया—कल मकान-मालिक ने अपने नौकर से उसे बुला भेजा था। किन्तु उसने बहाना बता कर दूसरे दिन के लिए टाल दिया था—'इस समय नौकरी पर जा रहा हूँ। कल आऊँगा!'...और उसका हृदय घृणा से भर गया—कितना कृतघ्न है वह? जिसे उस वृद्ध ने घोर आपत्ति के समय सान्त्वना दी, रहने को घर दिया, उसी से झूठ बोल कर वह अपने आप को पाप के गड्ढे में डाल रहा है। 'उँह! पाप पुण्य और ईश्वर कहीं कुछ भी नहीं है। झूठ...झूठ...!' इसी प्रकार के सैकड़ों सङ्कल्प-विकल्प उसके अन्दर चक्कर लगा रहे थे।

'और यह मकान-मालिक, पूँजीपति? हम लोगों का शोषण कर लूटने वाला यह पूँजीपति निष्कण्टक चला जा रहा है।'

गया। बहुत बड़ा मकान है। सजे हुए कमरे। तीन कमरे पार कर के चौथे में पहुँचा। विद्युत-आलोक छाया हुआ है। वृद्ध एक साफ चारपाई पर लेटा है। बीमारी के कारण बाल बढ़ आये हैं। टेबिल पर दवा की शीशियाँ पड़ी हैं। चारों ओर गहरी उदासी छा कर रह गई है। वृद्ध रह-रह कर दीर्घ निश्वास छोड़ रहा है। नेत्र तरल हैं। बगल में एक पन्द्रह वर्ष की लड़की पर, जिसके मुख पर तेज और प्रतिभा है, हाथ फेर रहा है।

रमाकान्त को देख कर लड़की का चेहरा झुक गया। उसकी गोद में एक नन्हा सा बालक था। वह सोचने लगा—'ऐसे अवसर पर उसे किराये का एक-एक धेला अदा कर देना चाहिए।'

रमाकान्त अब भी चुपचाप खड़ा रहा।

नौकर ने कहा—'रमा बाबू आ गये, सेठ जी।'

रमाकान्त वृद्ध के आगे आ गया।

बैठने का इशारा कर वृद्ध ने कहा—'मैंने तुम्हें इसलिए बुलाया है···'

बात काट कर उसने कहा—'जी हाँ, मैं किराये का एक-एक पैसा अदा कर दूँगा। आप चिन्ता न करें।'

'नहीं-नहीं- सुनो तो बेटा!'

रमाकान्त गौर से सुनने लगा:—

'अब मैं दो घड़ी का मेहमान हूँ। अधिक···बोल नहीं···सकता।···मेरी यह धर्म-पुत्री···है···।'

रमाकान्त लड़की की ओर दृष्टि-क्षेप कर पुनः वृद्ध की बातें सुनने लगा। वह बोला—'इसका नाम विशुद्धा है। इसकी भी एक कहानी है। वह भी सुन लोः—

'छः मास पूर्व, एक महाशय मेरे पास किराये पर मकान लेने के लिए आये थे। बातचीत से शिष्ट एवं कुलीन मालूम होते थे। मेरे पूछने पर, जैसा कि मैं अक्सर किया करता हूँ, उन्होंने कहा—हम लोग कुल जमा दो ही प्राणी हैं—मैं और मेरी पत्नी!

'कई सप्ताह पश्चात्, एक रात को एकाएक उनके यहाँ से चीत्कार की तीव्र ध्वनि मुझे सुनाई दी।' उस समय रात्रि के ग्यारह बजे थे। मैं अप्रत्याशित आशङ्का लेकर वहाँ जा पहुँचा। देखा—पति-पत्नी में झगड़ा हो रहा है। पत्नी कह रही है—'मैं इसे नहीं दे सकती। समाज और लज्जा भाड़ में जाय।···मेरा प्यारा शिशु···'

'तीसरे दिन इसके साथ के महाशय न जाने कहाँ इस बालिका को छोड़ कर चले गये! विशुद्धा फूट-फूट कर रो रही थी। कारण पूछने पर मुझे आश्चर्य-चकित रह जाना पड़ा। यह कहती थी—'वे मेरे पति नहीं थे; बल्कि एक···'

'मैं समाज की उस नारी की करुण-कहानी सुन आश्चर्य में पड़ गया। अनजान में प्रायः सभी से गलतियाँ हो जाया

करती हैं और उनका परिणाम कुछ कम भयङ्कर नहीं होता। मेरे कोई सन्तान न थी। परमेश्वर ने अति कृपा करके जो इसे भेजा है मैंने स्वीकार कर लिया है।'

'यह विशुद्धा बिलकुल विशुद्ध है। मैंने इसे अपनी पुत्री की तरह...।'—कहकर वे रोने को हो आए। धैर्य देते हुए रमाकान्त ने कहा—'आप घबराइए नहीं। कहिए, मैं आपकी क्या सेवा कर सकता हूँ, सेठ जी ?'

विशुद्धा इस दृश्य को देख कर काँप उठी। गरम-गरम आँसू उसके नेत्रों से बह रहे थे।

'अब मैं थोड़ी ही देर का हूँ।'—कह कर सेठ जी ने रमाकान्त की ओर कागज बढ़ा दिया ! बोला—'हाँ बेटा ! एक काम करो। मेरा आठ हजार का जीवन-बीमा है। यह टूटा-फूटा घर तुम्हारे सामने है। तुम पढ़े-लिखे, सच्चरित्र और नये विचारों के नवयुवक हो। मेरी हार्दिक इच्छा है, तुम इस विशुद्धा को अपनी पत्नी के रूप में स्वीकार करो।'

बस, सभी चौंक पड़े। वृद्ध के चेहरे पर मृत्यु-चिन्ह मूर्तिव हो गये।

एक वर्ष बाद।

रमाकान्त को पता चला कि उसके भाई की नौकरी छूट गई है। देव की पढ़ाई आदि का भी प्रबन्ध नहीं हो रहा है। परिवार की दशा शोचनीय है।

रमाकान्त ने विशुद्धा से अपनी सारी रामकहानी सुनाई।

भाभी के उस उग्र स्वभाव पर भी प्रकाश डाला। उत्तर में उसने कहा—'अच्छा है, उन लोगों को भी यहीं बुला लो। जो जैसा करेगा, परमेश्वर उसे वैसा ही फल देगा। किन्तु अपने से जो बन पड़े, उपकार कर देना चाहिए।'

उसने विशुद्धा को सम्बोधन कर कहा—'देखो, मैं तुम्हारे कथन को स्वीकार किये लेता हूँ। अब तुम प्रतिज्ञा करो, गृहस्थी के साथ ही तुम देश की भी सेवा करोगी। समाज के तमाम खोखले नियमों-बन्धनों को तुम नष्ट करने की चेष्टा करोगी। क्योंकि तुम्हारा सम्बन्ध केवल गृहस्थी से ही नहीं है। समाज के साथ भो चलना जरूरी है और उसमें जीवन डालने की आवश्यकता है।

उत्तर में विशुद्धा के नेत्र डबडबा आये। अवरुद्ध-कण्ठ से, अपना मस्तक पति के चरणों में रख कर, बोली—'मैं तुम्हारे साथ हूँ। यही मेरी प्रतिज्ञा है।'

दोनों के मुख पर प्रसन्नता दौड़ रही थी।

जौलाई '३१

प्रतिच्छाया

जब अतीत की ग्रन्थियाँ उसके नयन-हिंडोले में नृत्य करतीं, तब अक्सर ऊब कर वह इसी नरेशपार्क में बैठ जाता।

नीलाकाश में श्यामल, सजल-बादल छाये हुए हैं। रजनी अपने लम्बे-लम्बे डग भरती हुई विश्व को एक छोर-विहीन काली चादर से ढकने के लिए चली आ रही है। स्वच्छ, शीतल मलयानिल प्रवाहित है। पार्क के हरित वृक्ष, लतिका-लिंगित द्रुम-डालियाँ वायु के कोमल स्पर्श से शनैः-शनैः डोल रही हैं। भ्रमरावलियाँ पार्क के एक छोर से उड़कर दूसरे छोर तक चली जाती हैं। उनकी भावभङ्गी से स्पष्ट प्रतीत हो रहा है, मानो आनन्द आज स्वतः उनके अन्दर से अनुधावित हो उठा है। प्रातःकाल की शेफालिका की तरह खिलकर अपने प्रतिभाप्रदीप्त मुखमंडल पर हास मुखरित करते हुए एक नवयुवती उसी बेञ्च पर, जिस पर रमेश बैठा है, बैठ गयी। उसकी चपलता से रमेश विशेष रूप से आकर्षित हुआ। वैसी ही चंपई रंग की साड़ी, मुखरित आनन और ठीक वैसी ही कोमल वाणी!—रूपराशि की जीवित प्रतिमा! उसे ऐसा प्रतीत हुआ—अरे! वही तो है।

रमेश के मुख पर कल्पना की तीन-चार रेखाएँ अंकित

हो गयीं। उसका घाव हरा हो गया। उस दिन से, उसने एक एक क्षण, किस प्रकार व्यतीत किया, यह कहना उसकी शक्ति के परे की बात है। लेकिन अब भी वह निस्संकोच कह सकता है, मानो उसके हृदय पर, वह सब कुछ अंकित हो और इन्दु की कोमल गोदी में एक बार फिर से उसे नैसर्गिक सुख की प्राप्ति हो चुकी हो। उसे यह भी याद आता है कि इन्दु ने उसकी शुष्क-जीवन-धारा को कैसी स्फूर्तिमयी, प्रवेग-मयी बना दिया था। उसे प्राणरूप में पाया था। इन्दु को पाकर उसने संसार का सब कुछ पा लिया था।

आगन्तुक नवयुवती ने भावपूर्ण दृष्टि से रमेश की ओर देखा। देखकर, कुछ क्षण तक सोचती रही। रमेश की आंतरिक अवस्था को, उसके अन्दर चल रहे भीषण द्वन्द्व को, हृदयंगम न कर सकी। चुपचाप, कुछ समय के लिए, निर्निमेष दृष्टि से, उसकी ही ओर देखती रही। नवयुवती इस आशय पर पहुँची कि उसकी बगल में बैठे हुए युवक की विचारधारा किसी अज्ञात दिशा की ओर प्रवाहित हो रही है। वह भावों को अपनी कल्पना के घाट पर उतार रहा है और उसने यह भी अनुभव किया कि उसका प्रशांत मानस हाहा-कार कर रहा है—किसी अज्ञात व्यथा के कारण।

रमेश चाहता था कि उससे कुछ वार्तालाप कर अपने व्यथा-संतप्त हृदय को शांति दे, उसकी वाणी के अमृत से अपने निर्जीव शरीर को सजीव बनाये। कितनी बार उसने

शक्ति जुटायी कि बोले और बोले, लेकिन अतीत की गम्भीर स्मृतियों ने उसका कंठ अवरुद्ध कर दिया। वह कुछ भी नहीं बोल सकता था। उसमें, उस क्षण, शक्ति ही न थी। घिग्घी बँध गयी थी उसकी।

और उधर सुधा ?

उसके हृदय में सैकड़ों संकल्प-विकल्प आये और गये। संकोचवश वह कुछ भी न कह सकी। उसकी भावना-मूक बन गयी। यदि वह चाहती तो अपनी सारी आत्मीयता उँडेल देती—बिखेर देती—लेकिन चूँकि रमेश शान्त था, अतः वह भी निर्वाक् और निस्पन्द बनी रही।—और रमेश ?—वह बोल ही कैसे सकता है ? वह आज अपने मतिष्क की आँखों से देखता है—उसका वह कितना सलोना और लुभावना संसार था ! उसके जीवन प्रभात में भी तो कई बार, एक-एक कर, कितने ही बसन्त आये और शुभ सन्देश दे चले गये। दुनिया में अनेक परिवर्तन हुए। जो कल सुखी था, वह आज दुःखी है। उस दिन प्रमदाओं के मंगल गीतों से उसके कर्ण-रंध्र तृप्त हो गये थे। कितने ही कलाधरों को उसने कला धारण कर विस्मृति के गर्त में विलीन होते देखा था। तारा मंडल की अक्षय और अनन्त सौंदर्य राशि को तो वह कितना देख चुका था। फिर भी उसके कल्पना-कानन में आज पुनः प्रबल अग्नि प्रज्वलित हो उठी थी।

एक बार रमेश की आँखें लाल हो उठीं। दूसरे क्षण उसने

सुधा को तिरस्कार-पूर्ण दृष्टि से देखा। उसका अङ्ग-प्रत्यङ्ग जल-सा उठा। दीर्घ निःश्वास छोड़ते हुए उसने कहना चाहा—माना तुम विश्व की विभूति हो, वैभव हो, संसार तुम्हीं पर गर्व करता है—सौंदर्य की पूजा-अर्चना होती है—स्रष्टा ने सँभाल-सँभालकर तुम्हें अधिक सामञ्जस्य के साथ गढ़ा है। तुम्हारे अणु-अणु से विपुल-सौंदर्य की निर्झरिणी प्रवाहित है। तुम नारी हो, सुधामयी हो, सौख्यशालिनी हो!—और यह भी स्वीकार किया—तुम्हारी राजहंस-सी मदिर चाल, तीर्थरेणु-सा आदर्श···तो भी क्या तुम्हें यह शोभा देता है कि तुम किसी शीतल छाया में सोये हुए, परिश्रान्त क्लांत पथिक को जगा दो, उसकी प्रगाढ़ निद्रा को भङ्ग कर दो, सुप्त स्मृतियों को ठोकर लगा दो? अपना अमित वैभव दिखाकर··· यह केवल तुम्हारी क्षुद्रता है।···और न जाने वह क्या-क्या सोच गया। ये वाक्यावलियाँ उसके कंठ तक आ-आकर लौट गयीं। वह कुछ भी न कह सका। किसी टीस ने, जो रह-रहकर उसके हृदय में उत्पन्न हो रही थी, उसके मुख पर ताला लटका दिया।

× × ×

उसके कमरे में विद्युत-आलोक छाया हुआ है। प्रत्येक वस्तु प्रकाश से जगमगा रही है। वह आज मानो बड़े प्रयत्न से अपने-आपको सँभाले हुए है। उसके जीवन में अशान्ति का बवण्डर आ सकता है, लेकिन वह मनुष्य ही तो है। सैकड़ों

प्रयत्न करने पर भी वह सो नहीं रहा है। इधर-उधर करवटें बदलता है। किन्तु सब व्यर्थ! नींद उससे कोसों दूर भाग गयी है। वह लेटे-ही-लेटे विचार-विनिमय कर रहा है।—दुनिया परिवर्तनशील है। दो वर्ष के अन्दर उसकी कल्पना का, उसके वैभवपूर्ण जीवन का मानचित्र ही बदल गया है, युगों की कौन कहे? ऐसा ही तो होना आया है! देखो न, आज उसका कक्ष निष्प्राण, निर्जीव है। वह स्वयं भी मौन है। दुनिया भी मौन है। मौन भी तो मौन है। तब बोले ही कौन? आज उसमें इतनी भी क्षमता नहीं...! वह इन्दु आज अकल्पित है। उसका कहीं कुछ भी चिन्ह नहीं। वह दुनिया के लिए स्वप्नवत् है। एक दिन, कुछ वर्ष पूर्व, उसने कहा था—'इन्दु, अब भी तुम वही भोली इन्दु बनी हुई हो, जो दस वर्ष पहले थी। चलो इतना विचार करना भी क्या? कहीं ऐसा भी होता है!...'

और उसकी कल्पना का चित्र आज दिन भी कैसा शोभाशाली, कैसा आत्मपरायण और कैसा महान है, वह स्वयं नहीं कह सकता! लेकिन हाँ, जब कभी विस्मृति की सुखमय घड़ियाँ, घड़ी की भाँति टिक्-टिक् कर, उसके निकट थिरकने लगती हैं, तो वह संसार से निराश हो जाता है। हरियाली नामक चीज उसे दिखलाई ही नहीं पड़ती। सोचता है—यह संसार झूठा है। सम्बन्ध प्रवञ्चना से भरे हैं। यहाँ कोई वस्तु स्थायी नहीं है। जिस प्रकार इन्दु सिसकियाँ भरती

हुई चली गयी, उसी प्रकार एक दिन मैं और सभी प्राणी यहाँ से चल देंगे।

वे पिछली तमाम बातें !

कितनी आशाओं-अभिलाषाओं, अरमानों और उत्सर्गों को लेकर उसने अपना जीवन आरम्भ किया था। अपने तईं एक सोने का संसार रचा था। कल्पना के अनेक कुञ्ज सजाये थे और यह आशा की थी कि इन्हीं आशा-बल्लरियों की सुखद, शीतल छाया में सुख की नींद लेगा और इन्दु सी पूर्ण नारी को पाकर उसी में रल जायगा। उसकी कमलनाल-सी कोमल- उँगलियों के सुखद स्पर्श से वह अपने को धन्य-धन्य समझेगा। लेकिन उसे क्या पता था, अदृष्ट उसे अपना क्रीड़ा-कन्दुक बनाकर निमेषमात्र में ही, उसकी कल्पना-के इस भवन को ध्वस्त कर देखा, उसकी जीवन-वाटिका के मनोरम प्रभात में विष वृष्टि कर उसे सर्वथा नष्ट कर देगा, उसके सोने के संसार में विद्युत्-स्फुरण का भूकम्प उपस्थित कर देगा।

रमेश के समक्ष वह दृश्य भी घूम गया। दिल्ली के फतेह-पुरी नामक एक मुहल्ले में बैठा वह 'कॉफी' के कप को अपने मुँह से लगाये हुए था। वह दिन उसके जीवन का एक विशेष दिन था। बड़े इतमीनान के साथ वह कॉफी का पान कर रहा था। भाभी आन्दोलित और स्नेहातुर स्वर में कह रही थी—'रमेश, तू तो बुरा न मानेगा, एक बात कह दूँ न ?'

और बस, रमेश समझ गया, भाभी मजाक के व्याज से उसे बनाना चाहती है फिर भी उसके जी में आया यदि भाभी की कुछ कहने की इच्छा है, अभिलाषा है, तो क्यों न कह लेने दिया जाय ! हृदय के अन्दर मेरे प्रति क्यों विचार तह कर रक्खे जायँ ? हँसते हुए उसने चट से कह दिया—'हाँ, हाँ, भाभी ! कह लो न जी भर ! मैं तो तुम्हारा हूँ। अपने से सब कुछ कहा जा सकता है ! और फिर मुझ से अधिक तुम्हें कहने को दूसरा मिल भी तो नहीं सकता।' इन स्वीकृति भरे शब्दों से यद्यपि भाभी मात खा गयीं, तो भी···

'तेरी दुलहिन, मैं सच कहती हूँ, गूँगी है, कुछ भी बोलना नहीं जानती ! किसी से कोई प्रस्ताव नहीं करती !···तू भी ऐसी पगली व्याह लाया।'

'और तुम तो वाचाल हो। घर में सभी तुम्हारी ही कोटि के हों, ऐसा ही कब अच्छा है ?'

बस, इतने थोड़े से वाक्य ! इन्दु का चित्र घूम गया उसके सामने। एक-एक बात पर वह विचार करने लगा। जिन वाक्यों को सुनकर उसे खिन्न हो उठना चाहिये था, उन्हीं से जैसे वह प्रेरणा लेने लगा। भाभी का व्यङ्गपूर्ण उलाहना उसके पक्ष में गौरव की एक सामग्री बन गया। तदनन्तर वह बोला—'भारतीय नारी की यही मर्यादा है, भाभी !···भारतीय संस्कृति इसी के लिए विश्व-विख्यात है।'

रमेश 'कॉफी' समाप्त कर चुका था। भाभी पान लेने

अन्दर चली गयी। इसी बीच रमेश सोचने लगा—उसकी इन्दु भी क्या है ?—एक आदर्श भारतीय नारी ! वह तो बाल्यावस्था से ही ऐसे वातावरण में पली है, जहाँ आत्मीयता और सौहार्द्र का उचित अर्थ लगाया जाता है। वह पश्चिमीय नारियों की भाँति हँस-हँस कर···! उसे प्रकृति ने···और भारतीय नारी सागर जैसी गम्भीर, पूर्णिमा के चाँद की तरह स्वच्छ और पूर्ण ! और एक दिन इन्दु ने उसके श्री चरणों में सब कुछ उत्सर्ग कर दिया था। उसने विश्व का सम्पूर्ण वैभव इसी रमेश में पा लिया था। उसका देवता स्वरूप पति ही उसकी नवल आशा-बल्लरी, सीमाहीन अकल्पित उल्लास और चरम गर्भित अनुभूति है। जब रमेश इन प्रश्नों पर विचार करता है, तो उसे ऐसा प्रतीत होता है, मानों जो कुछ भी भाभी ने कहा था, वह निरा महत्वहीन, आदर्शहीन है। उसमें यत्किञ्चित् भी सत्य नहीं है। वह स्पष्ट एक व्यंग्य विनोद था।

चलचित्र की भाँति, एक के बाद दूसरा, दूसरे के बाद तीसरा, रमेश के सामने अनेक दृश्य आ रहे हैं। वह ज्यों-का-त्यों अपने बिस्तर पर लेटा हुआ है। उसके सामने पचीसों अंधकार पूर्ण चित्र आ रहे हैं। इनसे वह कितनी वेदना पाता है, कहा नहीं जा सकता !···उस दृश्य को शायद ही वह भूल सके।

उसे बराबर स्मरण है, जैसे वह आज की ही घटना हो।

उसकी इन्दु अपने पिता के घर में रोग शय्या पर लेटी हुई थी। बगल में एक कुर्सी पड़ी थी। उस पर उसकी माँ मुँह लटकाये बैठी, कुछ सोच रही थी।

और वह बुलाया गया था, अन्तिम मुलाकात के लिए। माँ वहाँ से हट गयी। इन्दु उसे देख आँसू बहा चली। उसमें इतनी सामर्थ्य नहीं, शक्ति नहीं, कि वह कुछ बोल सकती। अस्थि-पंजर के अतिरिक्त उसमें और कुछ भी शेष न था।—हाँ, एक साध, एक कामना। रमेश ने देखा—चेहरा तमतमा रहा था—बुखार से सूख गया था। उसने अपना हाथ उसके मस्तक पर रख दिया—उफ !···इन्दु !! शेष शब्द जैसे उसके कण्ठ में अटक गये हों।

टप, टप; टप !

—'इन्दु ! अरे, इन्दु !! तुम रोती हो ? जरूरत ? जल्दी ठीक हो जाओगी, दो दिन में !!'

—'अ···ब···आ ··शा···न···हीं···प्रा···णे···श···!' उसने अटकते-अटकते क्षीण स्वर में कहा।

—'तुम क्या बक रही हो, इन्दु ? मैं तुम्हें अपने से पृथक् नहीं होने दूँगा। तुम व्यर्थ दुःख करती हो। खेद न करो; शान्त हो ?' और रमेश ने एक बार फिर कम्पित हृदय से देखा—उसके चेहरे की दीप्ति, कान्ति क्षीण हो चली। सदैव हँसते रहने की रेखा भी उसके अधर-पल्लवों पर क्रीड़ा नहीं कर

रही थी। केशराशि इधर-उधर बिखरी थी। अदृष्ट हँस रहा था, रमेश रो रहा था।

—'तुम कौन ? हटो जी, जाओ यहाँ से! अरे, तुम कौन हो मेरे सामने ?'—आँखें चढ़ाकर वह बकने लगी। मुद्रा विकृत हो चली।

—'यहाँ कोई नहीं है, इन्दु ? तुम क्या बक रही हो ?'

—'आ···आह !'

और बस। अन्तिम समय दीपक की लौ जिस प्रकार तेज हो उठती है, ठीक उसी प्रकार······

रमेश सब कुछ देखता ही रह गया! नाटक समाप्त हो गया।

इसी बीच वह सोच रहा था, काश, वह डाक्टर होता!

रमेश का दिल असीम वेदना से भर गया। दुःख अन्धकार बनकर, काली-काली घटाओं के रूप में, उसके समक्ष मूर्त्त हो उठा। उद्भ्रान्त रमेश जैसे इस विश्व में है ही नहीं।

× × ×

आँखों में आँसू भरकर वह, चुपचाप, अपने बिस्तर पर लेट गया। कोशिश करने पर भी नींद उसके पास नहीं आ रही थी।

आज भी वह नहीं कह सकता कि उसकी इन्दु निरी मृगतृष्णा थी, प्रवंचना थी या चिर पिपासाकुल प्राणी की लोल लिप्सा।

भाग्य-निर्णय

'और डिवीज़न नम्बर सात ?'

'पीछे कर लिया गया है।'

'नुकसान ?'

'नुकसान काफी हुआ है……

'शत्रुओं की अपेक्षा……?'

'शत्रुओं की अपेक्षा कम—बहुत कम। हम लोगों ने प्रायः पचीस हजार सोवियत सैनिकों को कैद कर लिया है। सैकड़ों गनें, टैंक और युद्ध सामग्री……।'

'ठीक ! शाबाश……!'

सरदार ने कायदे के साथ 'सैल्यूट' किया।

मेजर ने सिर हिला दिया कि वह जा सकता है।

कुछ समय तक टेण्ट के भीतर एक अजीब किस्म की नीरवता छायी रही। मेजर कुछ गम्भीर था, पर अब और अधिक गम्भीर हो उठा। उसका 'मूड' ठीक न था। आँखें बड़ी-बड़ी, लाल ! चौड़ा मस्तक, सर पर कुछ थोड़े से भूरे बाल, जो वायु के साथ इधर उधर छितरा जाते थे। कालर से लगी टाई 'फर-फर' उड़ रही थी। मेजर कभी अपनी नुकीली नाक पर उँगलियाँ फेरता और कभी उड़ती टाई पर हाथ चलाने लगता।

उसका जी बार-बार उद्वेलित हो उठता था। युद्ध में पीछे हटना जर्मन सैनिकों ने न सुना है और न कल्पना ही की है। फिर सातवें डिवीज़न का पीछे हटना......? क्या उत्तर देगा वह अपने उच्चाधिकारी वर्ग को! उसकी क्या हालत होगी? अन्य ऑफिसर उसे किस दृष्टि से देखेंगे? अब उसकी आँखें और भी लाल हो उठीं।

'कॉल-बेल' का बटन दबाया। एक रंगरूट सामने आ खड़ा हुआ। आँख से, सामने लटके नक्शे को लाने का आदेश किया। वह प्रजातन्त्र रूस के कई स्थलों का मानचित्र था।

रंगरूट बाहर चला गया। गम्भीरता के साथ उस नक्शे को देखता रहा। उसकी बड़ी-बड़ी आँखें। जैसे उसे......

तब एक लम्बी साँस ली और मन ही मन कहा—'हूँ'।

घड़ी में समय देखा। टेबिल पर रक्खी शराब को काँच के पेग में डाल घूँट-घूँट कर चढ़ा गया। बाहर आकर इधर-उधर कुछ परेशान-सा टहलता रहा। कभी-कभी कह देता—रूस को हार जाना चाहिये। उसे हमारा—नात्सी—शासन स्वीकार कर लेना चाहिये। हम आज खुदा से भी लड़ने को तैयार हैं... हम में ताकत है, दम है और जिन्दादिली है। हम युद्ध के लिये सदैव तैयार हैं। पलायन हम नहीं जानते। यूक्रेन और काकेशस प्रान्तों की हमें जरूरत है। पेट्रोलियम और खाद्य पदार्थ यदि हमारे हाथ होंगे, निश्चय ही हम विजयी हैं। आगे चलकर 'ओडेसा' को भी हम ले सकते हैं। वह समुद्री

स्थान नात्सियों के लिये सभी दृष्टियों से लाभप्रद है। यदि उसको चारों ओर घेरा डाल दिया जाय······?

उस सारी रात मेजर सो नहीं सका, नींद नहीं आयी। बिस्तर पर बेचैनी के साथ करवटें बदलता रहा। ऊपर के अधिकारी······बार-बार वह उठ-उठ बैठता और युद्ध-क्षेत्र के चित्र पर अपनी आँखें गड़ा देता।

सिगरेट जला-जलाकर वह फूँकता जाता था और जब वह आधी के करीब आ जाती, फेंक देता था। इस प्रकार पचीसों सिगरेटें—जली-अधजली—उसके आस-पास पड़ी थीं। सामने उसकी पोशाक······।

सुबह वह उठ बैठा। इस समय टैंकों की आवाजें और भी स्पष्ट सुनाई दे रही थीं। दस मिनट पहले नम्बर ११ इनफैंट्री के बहादुर सिपाही मोर्चे पर जा चुके थे। कर्नल रिबन उस इनफैण्ट्री का नायक था। एण्टी एयर-क्रैफ्ट गनों की गड़गड़ाहट और वायुयानों से बम गिरने की आवाजें यहाँ तक सुनाई दे रही थीं।

इतने में ही मेजर ने देखा--सामने की ओर बेहद धुआँ उड़ रहा है। पता लगाने पर मालूम हुआ कि विध्वंसक नात्सी बमों के कारण आग लग गयी है।

फिर दस-एक मिनट बाद घण्टी हुई। घण्टी और भी जोर के साथ बजने लगी। सब सिपाही बिलकुल तैयार हो गये। मेजर बाहर आया, सलामी ली। फौज आगे बढ़ चली।

यूक्रेन का पश्चिमी हिस्सा नात्सियों के हाथ आ गया था।

मेजर की अध्यक्षता में गयी फौज ने वहाँ कब्जा पा लिया और शासन-व्यवस्था ठीक करने लगी।

× × ×

दूसरे दिन ओडेसा के चारों ओर गोलाबारी होने लगी। नात्सी फौजें उस नगर को घेरने की चेष्टा कर रही थीं। एक इनफैंट्री नीपर नदी के पश्चिमी मैदान पर लगा दी गयी। उस समय तोपों की गड़गड़ाहट और एण्टी-एयरक्रैफ्ट गनों की भयानक आवाज······

ओह ! बड़ा भीषण दृश्य था।

धू-धू कर धुआँ उठ रहा था और बम गिरने के फलस्वरूप चारों ओर आग की लाल-लाल लपटें उठ रही थीं।

धाँय—आवाज आयी।

धाँय-धाँय—दूसरी बार आवाज़ आयी।

नात्सी फौज पड़ी थी—चुपचाप। सोवियत के वायुयानों की आशङ्का न थी। अकस्मात् ही आक्रमण हो गया। नात्सी वायुयानों ने पीछा किया, पर व्यर्थ। सोवियत लड़ाकू जहाज़ काफी बम छोड़ गये थे और नात्सियों की बेहद हानि भी हो चुकी थी।

मेजर इस समय अधिक गम्भीर हो उठा था। वह बार-बार सिगरेटें फूँकता और नक्शे पर आँखें टिका देता। नीपर के आस पास और ओडेसा के चारों ओर उसकी दृष्टि थी।

खट्! खट्!—ध्यान टूट गया मेजर का।

देखा—उच्च अधिकारी वर्ग से कुछ 'आर्डर' आये हैं। पढ़ने के बाद वह और भी मौन तथा उद्विग्न-सा हुआ। बिगुल बज गया। सैनिक तैयार होने लगे। आज जमकर 'ओडेसा' पर आक्रमण करने की तैयारी हुई है। नात्सी लोग इस बात की चेष्टा कर रहे हैं कि यदि 'ओडेसा' में जमा सारी युद्ध-सामग्री उनके हाथ आ जायगी, तो इस हालत में उन्हें किसी प्रकार की भी दिक्कत का सामना नहीं करना होगा।

बिगुल—अन्तिम बार—मार्च के लिए बजा और इनफैंट्री सशस्त्र चल पड़ी। कुछ वायुयान साथ थे। सैकड़ों 'छतरीवाले' सैनिक!

अगले दिन घमासन युद्ध हुआ। लाखों आदमी हताहत हुए। घेरा डालने की चेष्टा जारी रही। हजारों सैनिक काँप उठे। बहुतों ने हथियार डाल दिये। बहुत बड़ी संख्या में सोवियत सैनिक कैद कर लिये गये।

लेकिन मेजर को अब भी चैन नहीं! वह सोवियत स्टोर को अपने कब्जे में देखना चाहता था। उस समय उस स्टोर का निरीक्षण एक रूसी महिला-सैनिक के हाथ में था, जो गुप्त-चर का भी काम कर रही थी। वह मेजर के पास कई बार आ-जा चुकी थी। इतना ही नहीं, वे दोनों साथ साथ चाय पीते और रात-रात भर एक ही टेण्ट में समय बिताते थे।

उच्च अधिकारी वर्ग को इस रहस्य का पता था। मेजर को

दाबा गया कि वह अपनी चिर-परिचिता……मैडम से……स्टोर की ताली……

मैडम ने इनकार कर दिया।

आक्रमण होने लगे। इस ओर मेजर और उस ओर मैडम……! वायुयानों का जाल, धुआँ, लपटें, कुछ अजीब-सा दृश्य था।

गुप्तचर द्वारा मेजर ने मैडम को अपने यहाँ बुला भेजा। मैडम ने आने से इनकार कर दिया।

मेजर ने विश्वास दिलाया—'जर्मन सिपाही विश्वासघात नहीं कर सकता।'

'आज तक के उदाहरणों से यह स्पष्ट है।'—मैडम ने उत्तर दिया।

'क्या प्रेम का यही आदर्श है ?'

'स्वदेश-प्रेम में यह बातें ठीक हैं।'

मेजर स्वयं मिलने गया। मैडमने कहा—'तुम इस समय मेरे शत्रु हो। देशके शत्रु हो। गिरफ्तार किये जाते हो।'

ठाँय ठाँय—पिस्तौल की आवाजें ! मैडम जमीनपर थी। लहू की धार वक्ष से निकल रही थी। पीछे से कई पिस्तौल की आवाजें आयीं—ठाँय-ठाँय-ठाँय। मेजर धराशायी हो गया। उसकी लाश एक भाले में छेदकर लड़ाई के मैदान में लटका दी गयी। उधर दूसरी ओर आक्रमण हो रहे थे। 'ओडेसा' के क्षेत्र में

लाखों सैनिकों की भीड़ थी । मैडम की लाश पुष्पों से सजाकर दफनायी गयी, लेकिन मेजर की लाश ज्यों-की-त्यों सड़ती रही। अब भी 'ओडेसा' के चारों ओर नात्सी फौजें पड़ी हैं आक्रमण हो रहे हैं । परन्तु अभी 'ओडेसा' के भाग्य का निर्णय नहीं हो सका है।

सितम्बर '४१

गत की रूपरेखा

किशो !

कविता लिखने बैठा, तो अनायास ही तीन साल की बातें सामने आ गईं। यद्यपि इन्हें तुम्हारे निकट लाना व्यर्थ-सा है, क्योंकि तुम्हारी दृष्टि में उनका कुछ भी मूल्य नहीं है, तथापि मैं यदि लिखने के लोभ को संवरण न कर सकूँ, तो ? —मैं इसका उत्तर तुम्हीं से पाना चाहूँगा।

लम्बे-लम्बे तीन वर्ष, हवा की तरह उड़ गये। सारी दुनियाँ बदल गई है। तुम्हारे शहर के भी रङ्ग-ढङ्ग कुछ और ही होंगे। कम से कम अब, उधर आने को जी नहीं चाहता। सोचता हूँ—यहीं, जिन्दगी बिता दूँगा। जिन्दगी बीत कर ही दम लेगी, चाहे यहाँ रहूँ, चाहे वहाँ और चाहे कहीं भी बना रहूँ! पर स्थानों में अन्तर जरूर होगा, इसकी मुझे परवाह नहीं है। हाँ, तो मैं कह रहा था, अब उधर आने को जी नहीं करता। भारी 'छीः-छीः' और घृणा के समुद्र में वहाँ आकर अपने को कौन डाले ? पचीसों उँगलियाँ मेरी ओर उठ जायँगी, जिसे सहन नहीं कर सकता। और इसी का परिणाम है, मैं इस दशा में, यहाँ दिन काट रहा हूँ। एक भारी बदनामी की काली घटा सदा मेरे साथ रहती है, रहेगी। समय-समय पर बरस भी जाती है। तब चारों ओर से शोर होता है। लोग

थूकते हैं, भला-बुरा कहते हैं। कहते हैं–बड़ा निकम्मा निकला! अरे! कुछ भी ख्याल न किया अपने परिवार की प्रतिष्ठा का।

किन्नो, उस दिन जो-जो बातें स्थानीय पत्रों में छपी थीं, मेरे सम्बन्ध में, वे सब निकट हैं। अखबारों की प्रतियाँ भी सुरक्षित हैं। उस प्रेम-जैसी पवित्र वस्तु पर···।

मैंने बोतल की दवा पी ली थी। उस समय मुझे इस बात का ज्ञान न था कि आखिर इसमें दवा दी है या···? मैं उद्-भ्रान्त हो उठा था—विद्रोही भी कह सकती हो। पर सारा विद्रोह अपने अन्दर ही पी गया। पी गया उस दवा की सहा-यता से! प्रायः १५ मिनट तक अर्धमूर्च्छित रहा, बदन से खूब पसीना निकला, फिर प्रतिक्षण संज्ञाहीन होता गया। इसके बाद का समाचार नहीं मालूम! दूसरे दिन, मैंने अपने आपको एक बार फिर आँखें खोलता और जीता, अस्पताल में पाया। मुझे आश्चर्य हुआ मैं जी रहा हूँ। दादा ने कहा—"छोटे भैया, बड़े नादान···हो···?" उस समय वे अत्यन्त विनम्र थे; परन्तु मेरे प्रति उनके मुख पर घृणा मूर्तिमान-सी थी। उनसे क्या कहता? हाँ, मैं मानता हूँ वह मेरी कमजोरी थी। सर सामने न होता था। माता और बहन को अपने निकट पा, अथाह सागर में डूबने सा लगा। लज्जा मुझे खा जायगी, ऐसा प्रतीत हुआ। उसी क्षण, मैंने वहाँ से निकल भागने की दृढ़ धारणा बना ली। क्योंकि मुझे अभी जीना था। न जीना होता, तो बचता ही क्यों? पर साथ ही यह भी बात थी, वहाँ

न रहकर मुझे अन्यत्र जाना था। अतः यहाँ आ गया। फिर तुम्हारा विवाह हो जाने के बाद...? तुम अपनी ससुराल चली गई थीं। आगे की बात मैं नहीं जानता। इतना जरूर जानता हूँ और उसे कहता भी हूँ कि मैंने उस दिन से तुम्हें भूल जाने की पूरी चेष्टा की परन्तु उन दिनों मैं यह कैसे समझ सकता था कि तुम्हें भूल जाने का वास्तविक अर्थ तुम्हें अपने निकट रखना है।

लो, आज 'किरण' नामक मासिक पत्रिका मेरे सामने है। उसमें तुम्हारी एक कहानी छपी है—'भूल जाने की बात!' सच कह दूँ, इधर एक लम्बे अरसे से मैं चोटी पर के कलाकारों का अध्ययन कर रहा हूँ। मैं चाहता हूँ, ठीक वैसी ही स्वस्थ चीजें, उनके यथार्थ और प्रकटरूप में, जनता के समक्ष रक्खूँ! तुम्हारी 'भूल जाने की बात' बड़ी कलापूर्ण कहानी है। वह एक 'मिशन' लेकर पाठकों के सामने आई है। पर एक बात है, जहाँ पर तुमने यथार्थ के प्रति आखें मींच, उस पर आदर्श का पर्दा डालने की चेष्टा की है, वहाँ पर तुमने कलाकार की पदमर्यादा का उचित और न्यायपूर्ण निर्वाह नहीं किया है—मैं इसे अपने दृष्टिकोण से कहता हूँ। सम्भव है, तुम अपने पक्ष में अधिक दलीलें पेश करो! खैर!

सुन रहा हूँ इधर प्रायः दो वर्ष से तुम्हें प्रेमाकुंर कवि की रचनाएँ विशेष प्राणप्रिय और हृदय-स्पर्शी मालूम हो रही हैं। तुम्हारे पतिदेव ने भी उस कवि की खुले हृदय से प्रशंसा की

है। शायद तुमने उसकी दोनों काव्य पुस्तकों का मनोयोग-पूर्वक अध्ययन भी किया है; परन्तु तुम्हें एक बात नहीं मालूम, वे कवि महोदय यहीं के हैं। गरीब हैं। उनके अन्तर में करुणा की सरिता प्रवाहित है। जीवन बिगाड़ डाला है, केवल इसी कविता के पीछे। बड़े-बड़े, भूरे और छितरे बाल हैं। लम्बा गौर-वर्ण कद। बड़ी आखें, सुडौल चेहरा। दुनिया ने उन्हें पीड़ा दी है। उस दिन की बात-चीत के सिलसिले में गहरे अवसाद से भरकर उन्होंने कहा—"यहाँ किसका भरोसा करूँ, छैल बाबू? अपना शरीर ही अपना साथ नहीं देता···। मतलब और स्वार्थ···।" और तब उन्होंने अपनी रचनाओं पर आये हुए अनेक प्रशंसा पत्र दिखलाये। कई तुम्हारे थे। लिपि मेरी जानी थी। पूछने पर पता चला, उन्होंने तुम्हारे किसी भी पत्र का उत्तर केवल इसलिए नहीं दिया कि वे अपने पिछले जीवन में धोखा खा चुके हैं। सदमा है। अतएव अब उनकी ऐसी धारणा बन गई है, किसी से अपनापा स्थिर करना भारी भूल है।

हाँ, तुमने एक पत्र में उनको लिखा है—"मेरे पति ने हँसी-हँसी में, मुझे परेशान करने के लिए...एक दिन यहाँ तक कह डाला—तुम्हें तो ऐसे ही कवि-पति की आवश्कता थी···।" सच तो यह है, आपकी रचनायें मानों मेरे अन्तर के मनोभावों की जीती-जागती प्रतिमायें हों···। आज तक मैंने किसी भी पत्रिका में आपका चित्र नहीं पाया। क्या आप कृपा कर अपना एक चित्र मुझे दर्शन करने के लिए भेज देंगे?"

न रहकर मुझे अन्यत्र जाना था। अतः यहाँ आ गया। फिर तुम्हारा विवाह हो जाने के बाद...? तुम अपनी ससुराल चली गई थीं। आगे की बात मैं नहीं जानता। इतना जरूर जानता हूँ और उसे कहता भी हूँ कि मैंने उस दिन से तुम्हें भूल जाने की पूरी चेष्टा की परन्तु उन दिनों मैं यह कैसे समझ सकता था कि तुम्हें भूल जाने का वास्तविक अर्थ तुम्हें अपने निकट रखना है।

लो, आज 'किरण' नामक मासिक पत्रिका मेरे सामने है। उसमें तुम्हारी एक कहानी छपी है—'भूल जाने की बात!' सच कह दूँ, इधर एक लम्बे अरसे से मैं चोटी पर के कलाकारों का अध्ययन कर रहा हूँ। मैं चाहता हूँ, ठीक वैसी ही स्वस्थ चीजें, उनके यथार्थ और प्रकटरूप में, जनता के समक्ष रक्खूँ! तुम्हारी 'भूल जाने की बात' बड़ी कलापूर्ण कहानी है। वह एक 'मिशन' लेकर पाठकों के सामने आई है। पर एक बात है, जहाँ पर तुमने यथार्थ के प्रति आखें मींच, उस पर आदर्श का पर्दा डालने की चेष्टा की है, वहाँ पर तुमने कलाकार की पदमर्यादा का उचित और न्यायपूर्ण निर्वाह नहीं किया है—मैं इसे अपने दृष्टिकोण से कहता हूँ। सम्भव है, तुम अपने पक्ष में अधिक दलीलें पेश करो! खैर!

सुन रहा हूँ इधर प्रायः दो वर्ष से तुम्हें प्रेमाकुंर कवि की रचनाएँ विशेष प्राणप्रिय और हृदय-स्पर्शी मालूम हो रही हैं। तुम्हारे पतिदेव ने भी उस कवि की खुले हृदय से प्रशंसा की

है। शायद तुमने उसकी दोनों काव्य पुस्तकों का मनोयोग-पूर्वक अध्ययन भी किया है; परन्तु तुम्हें एक बात नहीं मालूम, वे कवि महोदय यहीं के हैं। गरीब हैं। उनके अन्तर में करुणा की सरिता प्रवाहित है। जीवन बिगाड़ डाला है, केवल इसी कविता के पीछे। बड़े-बड़े, भूरे और छितरे बाल हैं। लम्बा गौर-वर्ण कद। बड़ी आखें, सुडौल चेहरा। दुनिया ने उन्हें पीड़ा दी है। उस दिन की बात-चीत के सिलसिले में गहरे अवसाद से भरकर उन्होंने कहा—"यहाँ किसका भरोसा करूँ, छैल बाबू? अपना शरीर ही अपना साथ नहीं देता···। मतलब और स्वार्थ···।" और तब उन्होंने अपनी रचनाओं पर आये हुए अनेक प्रशंसा पत्र दिखलाये। कई तुम्हारे थे। लिपि मेरी जानी थी। पूछने पर पता चला, उन्होंने तुम्हारे किसी भी पत्र का उत्तर केवल इसलिए नहीं दिया कि वे अपने पिछले जीवन में धोखा खा चुके हैं। सदमा है। अतएव अब उनकी ऐसी धारणा बन गई है, किसी से अपनापा स्थिर करना भारी भूल है।

हाँ, तुमने एक पत्र में उनको लिखा है—"मेरे पति ने हँसी-हँसी में, मुझे परेशान करने के लिए...एक दिन यहाँ तक कह डाला—तुम्हें तो ऐसे ही कवि-पति की आवश्कता थी···।" सच तो यह है, आपकी रचनायें मानों मेरे अन्तर के मनोभावों की जीती-जागती प्रतिमायें हों···। आज तक मैंने किसी भी पत्रिका में आपका चित्र नहीं पाया। क्या आप कृपा कर अपना एक चित्र मुझे दर्शन करने के लिए भेज देंगे?"

मैंने उनसे प्रश्न किया—"क्या आपने अपना चित्र इस विदुषी को भेजा है ?"

हँस कर—"जिसका चित्र एक बार, एक महिला ने, उपेक्षा से···और उसी चित्र को मैं भेजूँ···? कैसे पसन्द किया जायगा वह चित्र, उस समाज में ? कारण, वह किसी अर्थ का नहीं है। मेरा यथार्थ और सच्चा चित्र, जिस पर किसी को विश्वास हो सकता है, सन्तोष हो सकता है, मेरी 'रचना' है। सम्भव है, मेरे अन्तर के चित्र को देख लोग प्रसन्न हों और बाहर के चित्र को देख अप्रसन्न। तो बाहर के कुरूप चित्र को सामने लाकर मैं अपने अन्तर के चित्र की प्रतिष्ठा-सम्मान क्यों खोऊँ ?"

मैं चुप रह गया। क्या सचमुच ही मैं चुप रह गया ? क्या इस चुप्पी द्वारा···?

× × ×

क्निो !

लो, आज यहाँ आ गया हूँ। इस शहर से मुझे विशेष स्नेह है। पता नहीं क्यों ? कभी-कभी अपने मन से पूछता हूँ "ऐसा क्यों ?" और उत्तर अपने में न पा, सोचता रह जाता हूँ। असमर्थ के निकट बस केवल सोचना और···।

हाँ, इसे 'गोयल होटल' कहते हैं। इस शहर का यह सबसे सुन्दर और बड़ा होटल माना जाता है। अभी दो दिन यहाँ और ठहरूँगा। तुम्हारे प्रिय कवि प्रेमाकुंर भी मेरे ही पास हैं। अभी तीन दिन पूर्व तुम्हारा जो पत्र उनके पास आया है,

उससे मुझे पता चला है, तुम बीमार हो। यह जानकर मुझे कम दुःख नहीं हुआ। पर हँसना और रोना, मर-मर कर जीना और जी-जीकर मरना, इन सब को आज तक समझ ही कौन सका है ? किसी को, सच तो यह है, समझने की जरूरत ही कब महसूस हुई है ? हाँ, तो मैं कह रहा था, इस होटल के चारों ओर एक सुन्दर-सी बाटिका है। रात्रि को सोते समय पुष्पों की सुगन्ध से कमरा गमक उठता है। पर एक बात···! एक भीषण मूर्च्छना-सी यहाँ विचरण करती है। मेरे इस कमरे में सन्नाटा है। खिड़की से देखता हूँ, सेण्ट्रल स्टेशन का पृष्ठ भाग ! कुहरा-सा चारों ओर है। सोचता हूँ, जीवन के अन्धकार का भी कुछ प्रयोजन होता होगा। अन्धकार, अन्धकार ही नहीं है ; उसके अन्दर भी कुछ है, अब मेरा ऐसा विश्वास बनता जाता है··। पर हाँ, वह कितना अभागा है, दीन ? उसे देख लोग काँप उठते हैं, यही उसकी दीनता का गुण समझ लो। चाहते हैं, सदैव ही वह दूर रहे, नष्ट हो जाय, कभी भी संसार में न आये; किन्तु लोगों की ये बातें मेरी समझ में कम आती हैं। मेरा अपना ऐसा विचार है, उनका संसार में रहना, जीना जरूरी है, लोग उससे अपने को सुधारने का उदाहरण ही ले सकते हैं। जैसा वह बुरा और खोटा है, वैसा और उसके सदृश वे अपने को बनाएँ !

कविवर प्रेमाङ्कुर ने आज पी ली है। उनकी आँखें चढ़ी हैं। कहते हैं—"मैं 'पीने' के लिए इसे नहीं पीता, बल्कि पीता हूँ

उसमें अपने को खोने के लिए। 'खोने की दशा' में ही मुझे सुख की उपलब्धि होती है। जब तक 'पाने' की मनुष्य को चिन्ता रहती है, तब तक स्वार्थवश वह कुछ नहीं है जब अपने को खो देता है तब···"

एक कविता भी लिखी है उन्होंने :—

"खोजने निकला विजन में,
पर न मैंने खोज पाया !
आज जब देखा उसे तो,
अश्रुओं के मध्य पाया !"

आशा है, तुम्हें उनकी यह रचना पसन्द आयेगी। स्पष्ट है, तुम उनसे दूर नहीं हो। उनकी हो और उनमें समाविष्ट रहोगी।

किन्नो,

देखो, कितना अस्थिर हो उठा है तुम्हारा कवि ? आज अपनी बात न चलाऊँगा। क्योंकि मुझ में अब उस नवीनता और चाञ्चल्य का सर्वथा लोप हो चुका है, जो गत तीन वर्ष पूर्व था। आज, बस, केवल उस कवि प्रेमाङ्कुर की बात करूँगा, जिसने अपने जीवन के अणु-अणु को··। ओह ? उसकी साधना भी तो देखो ! उसके काव्य में ऐसी गति क्यों है, यह भी रहस्यपूर्ण बात है। आज तक उसने मुझसे इस सम्बन्ध में यद्यपि कुछ कहा नहीं, तथापि मैं यह विश्वास के साथ कह सकता हूँ, उसके अन्दर दुःख की ज्वालामुखी का विस्फोट है !

सच जानो, एक दिन उसने कहा था—मैं बहुत पतित हूँ, हेय हूँ ! लोग मेरे स्वरूप को देख 'थू-थू' करते हैं...।

× × ×

किन्नो,

सोचता हूँ, बार-बार ये सारे पत्र क्यों लिखूँ ! आखिर पत्र लिख लेना भर ही तो काफ़ी नहीं होता। मनुष्य भले ही अपने को अपने आप से छिपाये रक्खे, पर कब तक ?

हाँ, तुम्हारा प्रिय कवि दो दिन से अस्थिर, उन्मन-सा है। कई बार बाज़ार हो आया। व्यर्थ भाव से खूब पान उसने खाये। एक स्थान पर जम कर बैठना उसके लिए भार हो गया। क्या किया जाय, आवश्यकता पड़ने पर आदमी क्या नहीं करता ? उस समय समाज, देश, नाते और सम्बन्ध पीछे छोड़ जाता है। मेरे ही साथ होटल में है। कई बार आज तुम्हारे सम्बन्ध में उसने मुझसे पूछा। बोला—"इस विवाहिता किन्नो की रूप-रेखा से मैं परिचित नहीं हूँ किन्तु फिर भी अपनी कल्पना द्वारा एक चित्र.....।"

होटल के मैनेजर साहब परेशान-से हैं। लड़के चाय लाते-लाते थक गये। आस-पास देखो न सिगरेट की कितनी...और धुएँ के जैसे बादल छा गए हों ! मुँह से धुआँ बाहर फेंक देता है, कुछ समय तक उसी को ध्यान-पूर्वक देखता रहता है और जब उसके तार खिड़की से बाहर निकलते हैं, तो कहता है—"देखो किन्नो भगी जा रही है ?"

किन्नो, तुमने व्यर्थ ही उससे चित्र माँगा है ! आज मैं उनके पीछे पड़ गया—"नहीं, तुझे चित्र भेजना ही होगा प्रेमांकुर !"

"बड़ा कुरूप हूँ । मेरी अचित्र प्रतिष्ठा पर ठेस पहुँचेगी ?" —बस बड़ी शुष्कता से वह केवल इतना ही बोला ।

मैंने विशेष ज़ोर नहीं दिया । शायद उसका कल लखनऊ जाने का विचार है ।

× × ×

आज नहीं सूझता तुम्हें क्या सम्बोधन दूँ । न तुम किन्नो हो, न कल्पना और न···। जीवन में प्रयोग के लिए आगे बढ़ा था और परिणाम-स्वरूप असफलता हाथ लगी ।—'क्यों, कैसे और क्या ?'—ये प्रश्न दार्शनिक के लिए भले प्रीतकर व गम्भीर हों, पर मेरे निकट इनका कुछ भी मूल्य नहीं है । मेरे सामने एक पथ है और उस पर चुपचाप चलना मेरा अपना कार्य !

सच कहूँ किन्नो, तुम्हारे उस कवि की भी कुछ अजीब धुन है । उसमें एक विचित्र अनोखापन है । रास्ता चलते, होटल देख रुक जायगा । अन्दर परदों से सजे कमरे में बैठ मिनटों सोचा करेगा, चित्रों में उसकी आँखें गड़ जायँगी । कभी कहेगा—"अमुक चीज़ खाऊँगा ।" और जब प्लेट आगे आयेगी, तब 'वेटर' से मुँह बना कहेगा—"उठा ले जा !—ला, तू चाय और टोस्ट ले आ ।" चाय पीता जायगा । सिगरेट के तारों में उलझेगा । तारों को देख कहेगा—"मनुष्य के पास केवल एक तार है । उससे अनेक प्रकार के गीत, राग फूट निकलते हैं ।

बड़ा कोमल होता है वह तार! बड़ी सावधानी की ज़रूरत होती है, उसे रखने के लिए! ज़रा से धक्के में टूट जा सकता है! और फिर जब जिन्दगी जैसी चीज के टुकड़े-टुकड़े हो सकते हैं, टूट सकती है, तो तार—वह तार जो अत्यन्त कोमल है—उसके टूटने ··में।" मुझे उसकी ये तमाम बातें कैसे रुचें? मैं भुलक्कड़ आदमी, स्वयं अपने आप में भूला? उस दिन ग़मगीन-सा बैठा मैं कुछ सोच रहा था कि अनायास ही पीछे से आकर आँखें बन्द कर लीं। बोला—"बताओ कौन?"

"प्रेम।"

"यानी तुम मेरे मन-प्राण तक पहुँच चुके हो? तुम मेरी वाणी से भी···परिचित हो ··गए हो?"

मैं कुछ न बोला। चुपचाप उसकी बातों को सुनता रहा।

"दुनिया कवि को स्नेह करती है, परन्तु यदि मैं अपने अन्तर्जगत की बात उससे कह दूँ, तो शायद···?"—आँखें लाल हो उठीं।

"पागल हो गया है तू! चुप बैठ उधर!"

"नहीं, पागल नहीं, छैल बाबू? दुनिया अपने को धोखे में रखने की आदी है।

"बात सही है, पर अभी, आज मेरा मूड ठीक नहीं है।"

"मूड कभी किसी का ठीक ही कब रहेगा, जब तक वह इस दुनिया के बीच है? अच्छा चाय तो पिलाओगे न?"

चाय तैयार की। पिलाया। सिगरेट दी। बोला—"जिस

तरह तुम देख रहे हो, मैंने इस सिगरेट में आग लगा फूँक दिया है, ठीक उसी तरह मैंने जिन्दगी नाम की सिगरेट को भी फूँक कर पी लिया है। मानते हो जिन्दगी को भी एक सिगरेट ?" कुछ ठहर कर—"तुम कहते होगे, आज, अच्छा इस पगले से पाला पड़ा है ?"

× × ×

किन्नो !

आज एक मर्मान्तक सन्देश तुम्हें भेजते हुए मेरा हृदय काँप रहा है। सोचता हूँ, उसे सुनकर तुम धैर्य भी धारण कर सकोगी ? जीवन में कवि प्रेमाङ्कुर क्या पा सका है, मैं नहीं जानता हूँ। लेकिन जीवन के अन्त में उसे जो कुछ मिला है, उसे मैं समझ सका हूँ। ऐसा अन्त भगवान किसी को न दे। उस 'गोयल होटल' में आज कवि प्रेमाङ्कुर का शव पाया गया है। पुलिस के तलाशी लेने पर अन्य चीजों के अतिरिक्त तुम्हारा चित्र और तुम्हारे वे पत्र भी मिले हैं। उसकी आत्म-हत्या में पुलिस ने तुम्हारे हाथ का अनुमान किया है, ऐसा भी सुनने में आया है। उसके सामान और अटेचीकेस को पुलिस कर्मचारी उठा ले गए हैं। रहस्य का अभी पूरा-पूरा उद्घाटन नहीं हुआ है। परन्तु इतना स्पष्ट है, वह अत्यन्त पीड़ित था और दुनिया से सहानुभूति का एक बूँद चाहता था, किन्तु......

किन्नो ! जीवन एक सरिता है। जो कुछ उसके प्रवाह में

आ गया, बहता चला गया। प्रवाह किसी की प्रतीक्षा नहीं करता। आओ और बहते चलो—पार घाट लगते चलो! इस पार लगो या उस पार! तुम्हारा कवि प्रेमाङ्कुर आज विजयी की तरह जीवन-तट से मृत्यु के उस तट पर चुपके खिसक गया है। जाने क्या सोचकर उसने आत्म-हत्या करने के पूर्व एक पत्र मेरे कोट की जेब में तुम्हारे लिए छोड़ दिया है। वह तुम्हारी वस्तु है, तुम्हारा उपहार है अथवा कवि प्रेमाङ्कुर की तुम्हारे लिए अन्तिम स्नेह-भेंट है। मैं तुम्हारा पत्र तुम्हें भेज रहा हूँ और पाठकों की जानकारी के लिए उसकी अविकल नकल नीचे दे रहा हूँ।

"किन्नो!

जीवन का यह क्षण। तुम्हारा चित्र, तुम्हारे पत्र सब कुछ यहीं छोड़े जा रहा हूँ। सँजो कर रखना। मरते समय तुम्हारा कल्पना चित्र अपने साथ लिए जा रहा हूँ। तुम्हारा आत्म-समर्पण······? आह, वह महान है! मैं उसकी प्रशंसा नहीं कर सकता। आज अपनी परवशता में आकण्ठ डूब चुका हूँ। अब तुम्हारा प्रेमाङ्कुर कवि संसार से और तुमसे विदा लेता है। उसकी सबसे बड़ी और मर्मान्तक रचना तुम्हारे और संसार के समक्ष है।

फरवरी '४०   तुम्हारा,

प्रेमाङ्कुर!"

सेजगाड़ी

करुणा भरे स्वर में बिन्दो ने कहा—"जीजी, अपने बाल-बच्चे सँभालो! तुम्हारे इस घर का काम-काज अब मुझसे एक दिन भी न होगा। आदर-सत्कार की भी मुझे भूख नहीं है। दिन भर टहल करूँ, कपड़े धोऊँ और दोनों पहर बर्तन साफ करूँ लेकिन बदले में मिलें झिड़कियाँ, गालियाँ, सो अब अधिक सुनना मेरे बूते की बात नहीं, जीजी!"

रमाकान्त की माँ इन बातों को चुपचाप पी गई। उस समय, सत्य-कृष्ण, वह कुछ भी नहीं कह सकी। हाँ, जी में आया था, कह दे—ऐसी ही औरतें तो घर में आग लगाती हैं। यदि इस योग्य न होती, तो अपने पति······को······

और बिन्दो आँसुओं के भँवर में डूबी, कुछ सोच रही थी। जब कभी वह क्रोधावेश में आकर कुछ कह देती है, तो आँसुओं का रोकना उस समय उसके लिए कठिन हो जाता है। वह उन्हीं के साथ बह चलती है। अँधेरा छा जाता है, दम घुटने लगता है उसका! और सच तो यह है, 'रोना' उसके लिए कोई नई वस्तु नहीं है। परमेश्वर ने उसको इस संसार में आते ही, वरदान के रूप में, इसे दे दिया था। सोते-जागते, उठते-बैठते और चलते-फिरते वह रोती ही रहती। हाँ, रोने में अन्तर केवल इतना ही था कभी वह अन्दर ही

अन्दर रो लेती, आँसू बाहर निकलने ही न पाते और कभी इस प्रकार रोती कि लगता बस अब उसके भीषण चीत्कार से, दुनिया हिल-डुल जायगी, भूचाल आ जायगा! आज वह इसी प्रकार रो रही थी। उस छोटी-सी काली कोठरी के अन्दर उसके मर्मान्तक रुदन और दयनीय अश्रु-प्रवाह को सुनने और देखने वाला था ही कौन—वही केवल अन्धकार! वही अभागों को अपनाने वाला उनका अपना एक मात्र मित्र है। तभी इस अन्धकार से उसे ऐसी ममता है, स्नेह? घनी कृष्ण रात्रि हो कि बस उसे रोना याद आ जायगा। हाँ, तो बिन्दो रो रही है और सिसक-सिसक कर रोती ही जा रही है।

पड़ोस की दो-तीन औरतें दौड़ी आईं। उनमें से एक बोली—"रमाकान्त की माँ, तुम भी क्या रोज-रोज अपने घर को कसाई घर बनाये रहती हो! जब देखो तब लड़ाई, झगड़ा, बकझक! आखिर तुम्हारे पास क्या कोई और काम है ही नहीं, जो इसकी जान लेने पर तुली हो?" इतना कह कर वह बिन्दो की ओर गई। अपना हाथ उसके सर पर फेरते हुए कहा—"चुप हो जा बेटी, चुप हो जा, भगवान् ने ही तुझे दुःख दिया है, वह तो काटे ही कटेगा! आदमी की कौन चलाये······! देखो तो, जब से बेचारी, गऊ जैसी सीधी लड़की इस घर में आई, एक दिन भी सुख से न रह सकी!··· अः! और जीजी के जैसे शील है ही नहीं!"

पड़ोसिन के सहानुभूति भरे इन शब्दों को सुन कर बिन्दो

का रोना और भी बढ़ गया। यही रोना उसके जीवन का साथी है, यही जीवन के अन्तिम क्षण तक उसके साथ है। यही सत्य है, यही चिर शाश्वत ! इसे पाकर वह संसार के वैभव पर दृष्टि उठाने की इच्छा नहीं करती। जिन्दगी भर इसी को सँभालती रहेगी। बस, इसी को लेकर, सन्तोष के साथ, वह जीवन को पार कर देगी।

"रो न बेटी, बस, अब वहुत हो चुका, बिन्दो ?"

और जब उसका रोना कुछ थमा, तब वह बेहोश होकर लुढ़क गई। पड़ोसिन नागिन-सी फूत्कार कर उठी—"हुआ न वही ? कह रही थी, अभी तबीयत ज्यादा ख़राब हो जायगी ?" दीर्घ निश्वास छोड़, रमाकान्त की माँ को बुलाया—"अरी ओ री रमा की माँ, देख बिन्दो बेहोश हो गई ?—हाय भगवान्, अभी इसे कितने दण्ड दोगे (मन-ही-मन) ?–इससे तो इसे उठा लो, सो ही···"इसके आगे वह कुछ भी न कह सकी ; उसका गला दुःख के कारण भर-सा आया था। चेतना, इस करुणा-विगलित दृश्य को देख, लुप्त-सी हो रही थी। बिन्दो की इस अचेतन दशा पर सब की आँखें सजल हो उठीं ?

रमाकान्त की माँ, निकट आ, तिनक कर बोलीं—"कौन रोज-रोज दो मन की लाश उठाये ? मुझ में तो इतनी ताक़त भी नहीं है·····और इनके लिए तो यह दिन भर का खेलकूद है ?"

वायुमण्डल स्तब्ध-सा रह गया। पड़ोसिन ने सहज भाव से कहा—"राम ? राम ? भगवान् के लिए ऐसा न कह रानी ?

ऐसी दूध की धोई लड़की अब जल्दी तेरे घर आने को नहीं। देवी है, देवी ?"

"जाओ, जाओ, अपने घर को जाओ ? तुम्हारी वकालत की मुझे बिलकुल जरूरत नहीं है।"—कर्कश एवं तीव्र स्वर में रमाकान्त की माँ ने उत्तर दिया। पड़ोसिन के साथ, अन्य स्त्रियाँ भी, अपनी-अपनी ओर चल दीं।

सन्ध्या समय जब रमाकान्त के पिता दफ्तर से थके लौटे, तो घर में पदार्पण करते ही एक मूक-सन्नाटे ने, उनके हृदय को आन्दोलित कर दिया। लड़के ने बतलाया—"आज चाची दिन भर में कई बार बेहोश हो गई थीं। कमजोरी बहुत बढ़ गई है। उन्होंने आज कुछ खाया भी नहीं। न जाने क्यों रोती हैं।" इसके आगे वह जैसे कुछ भी न सुन सके। बिन्दो की मनः स्थिति का उन्हें भलीभाँति ज्ञान है। वे यह भी जानते हैं बिन्दो के मानस-क्षितिज पर दुर्भाग्य की कितनी श्याम घटाएँ चक्कर काट रही हैं। लड़के को बुलाकर कहा—जा, गुप्ता बाबू को बुला ला ?

"मुफ्त ही गुप्ता बाबू चले आयेंगे ? किसी की जमींदारी में बसे हैं क्या ? हमारे घर में इतना धन नहीं कि ज़रा-ज़रा-सी बातों पर गुप्ता बाबू को···?"

पत्नी की इच्छा के विरुद्ध पिता ने रमाकान्त से कहा—"जा-जा, तू जाता क्यों नहीं रे ? देखता क्या है ?"

(२)

बिन्दो, गऊ-सी सीधी हिन्दू लड़की ! जब से उसने अपनी

सुधि सँभाली, तबसे उसे सुख के दर्शन ही नहीं हुए। न जाने उसने पिछले जन्म में कितने अपराध किये थे कि उनका फल उसे इस जन्म में भोगना पड़ रहा है। जब वह सात साल की निरी अबोध बच्ची थी, तभी उसके गाँव में प्लेग का भीषण तूफान आया था। सैकड़ों भरे-पूरे घर उसकी विनाशकारी गति में समाहित हो गए थे। माताएँ रो रही थीं—उनकी आँखों के सामने उनके उछलते-कूदते लाल, काल के गाल में, समाते चले जाते थे। मृत्यु उस समय बहुत भूखी थी। चारों ओर, सुबह से शाम तक, सड़क पर लाशों को ढोते हुए लोग देखे जा सकते थे। ओह! उस दृश्य को याद कर, आज भी शरीर का रोम-रोम भय-विकम्पित हो जाता है। एक साथ, एक-एक घर में, चार-चार प्राणी ठण्डे हो कर रह गये थे। सब लोग गाँव छोड़ कर जङ्गल में निर्वाह कर रहे थे। परन्तु मृत्यु के लिए संसार में न तो कोई ख़ास स्थान ही नियत है और न कोई ऐसा ही उपाय है कि जिसको उपयोग में लाने मात्र से ही प्राणी को उससे छुटकारा प्राप्त हो जाय? बिन्दो के माँ-बाप इसी हवन-कुण्ड—दैवी हवन-कुण्ड—में जल-भुन कर स्वाहा हो गये। अब समाज कुण्ड के क्लेश उसके सामने एक-एक कर आने लगे। उसके आगे-पीछे कोई नहीं था। भरण-पोषण का प्रश्न गाँव के कई प्रतिष्ठित व्यक्तियों के सामने आया; लेकिन बेग़रज़ प्रीति करते हुए दुनिया में बिरले ही देखे गये हैं। किसी को क्या पड़ी थी कि वह बिन्दो को अपने घर रख प्रति दिन आध सेर

अन्न से हाथ धोये ? आठ-दस दिन वह गाँव के टुकड़ों पर गुजर करती रही। एक दिन ऐसा भी आया जब किसी भी उदार माता-पिता ने उसे टुकड़ा देना तो दूर, उस जलमुँही लड़की को देखना भी गँवारा नहीं किया ? तब एकदिन अनायास ही दूर के एक नातेदार ने उसे मौसी के घर पहुँचा दिया। बम फट जाने पर जिस प्रकार लोग आश्चर्य-विह्वल हो जाते हैं, ठीक उसी प्रकार बिन्दो जैसी लड़की को अपने बीच पाकर सभी जन स्तब्ध रह गये। कौन चाहता था, बखेड़ा मोल लिया जाय ? पर [illegible] मोल लेना साँप के मुँह में छछूँदर चली जाने पर उसका निगलना मरने जैसा घातक या छोड़ देने से अन्धा होने जैसा आवश्यकीय और विधिलिपि जैसा अमिट होगया, तब—उस दशा में—उसके मौसिया ने उसे अपने घर के [illegible] दिया। [illegible] की दुर्नीति ने भी बिन्दो को कम परेशान नहीं किया। वे, उस समय, उस हतभागिनी बालिका की सूरत देख, सूखी लकड़ी की भाँति, झट से जल उठती थी।—एक देवी की चिन्ता से जहाँ उनके प्राण पखेरू उड़े-उड़े फिरते थे, वहाँ दूसरी भी उस परमेश्वर ने कृपा करके उनके पास भेज दिया था। लेकिन वह समय तो ऐसा था, जब कि बिन्दो का पालन पोषण करना उसके मौसिया के लिए जरूरी ही हो गया था।

प्रति दिन, प्रातःकाल, उसे अपने माता-पिता की याद आ जाती और वह घण्टों आँसू बहाया करती। लोग समझाते-

समझाते हार जाते, पर वह रोने से बाज़ ही न आती, अबोध जो थी। ऐसे अवसर पर प्यारभरी थपकियाँ दे-दे कर समझाने और मुँह चूम कर पुचकारने वाला था ही कौन ?

ज्यों-ज्यों वह सयानी होने लगी, त्यों-त्यों उसके मौसिया का खून सूखने लगा। इस कन्या को कहीं फेंकने की चिन्ताएँ उन्हें दिन-रात परेशान किये रहतीं। मौसी उसे तौल-तौल कर पानी देती, और रोटियों को कई बार गिन लिया करती। ऐसे वातावरण में पशु भी रहना पसन्द न करेगा। वह घर, वह अन्न और वह पानी बिन्दो को काटने लगा ? पर वह करती क्या ? वह विवश जो थी। हाँ, इस विवशता की उसके पास केवल एक ही औषधि थी और वह यह कि जब वह अत्यन्त अधीर हो उठती, तो दुःख के आघात को, आँखों के घाट से, आँसुओं के द्वारा बाहर निकाल दिया करती थी। कभी-कभी जब मौसी घर में न होती तो सन्ध्या समय वह घर की ऊपरी छत पर उदास चेहरा ले जा बैठती और घोर नैराश्य एवं दुःख में डूब ढलते हुए सूर्य को निहारा करती। सन्ध्या की धुँधली में उसकी भाग्य-रेखा समाती जाती। नीड़ों को लौटते अधीर पक्षियों को देख सोचती—कैसी स्वच्छन्द वायु में वे सब दौड़ रहे हैं ? क्या इनमें से कोई मुझ जैसा बिना माँ-बाप का अभागा भी होगा ? क्या इनमें से कोई ऐसा भी होगा जो अपने अन्दर ही रो लेता हो ? क्या उसके भी जीवन में कभी वह दिन आयेगा, जब वह स्वयं इन पक्षियों की भाँति···? तब उसका दुःख

प्रार्थना करती—"हे दीपक देव! मैं उस दिन तुम्हारी पूजा करूँगी, जिस दिन तुम मुझे···!" तदुपरान्त रोटी-अपनी में में उलझ जाती। रात के बारह बजे तक एक क्षण को भी फुर्सत न मिलती। मौसी जितना खिलाती थीं, उतना वसूल कर लेना शायद वह अपना कर्तव्य समझती थीं। कपड़े-लत्ते भी उसे उसकी जरूरत के अनुसार न मिलते थे। यदि वह आग्रह भी करती, उत्तर मिलता—"बिटिया, सारा धन कपड़ों में थोड़े ही खर्च किया जायगा। अभी बहुत-से काम मुझे आगे करने को पड़े हैं।"

दिन चलते गये।

विवाह के लिए मौसिया सालों दौड़-धूप करते रहे। सन्ध्या को जब वह मौसी से बातचीत करते और बिन्दो दरवाजे की ओट से चुपचाप सुनती, तो उसके जी में आता कि भगवान् ने उसे जन्म ही क्यों दिया है? क्यों न वह दो पैसे का विष लेकर अपना अन्त कर ले। क्यों न वह अपने शरीर में किरासिन तेल डाल, आग लगा, उसी की लपटों में स्वाहा हो जाय, अपनी सारी मनोव्यथाओं को सदैव के लिए छुट्टी दे दे? पर अबला नारी ऐसा करने को भी स्वतन्त्र न थी। गीली आँखों और सूखे मन वह दुनिया के वैभव को निहार, जी मसोस लेती थी, और इसी क्षण जब वस्त्रों में स्थान-स्थान पर लगे हुए टुकड़ों (पेवन्दों) पर दृष्टि जाती तब उसका प्रशान्त

मानस हाहाकार कर उठता ! यह कैसी विचित्र और दयनीय उसकी दशा है···!

एक दिन।

मौसिया मुस्कराते हुए बोले—"चलो, छुट्टी मिली।"

"क्यों, तय हो गया ?"—पत्नी ने प्रश्न किया।

"हाँ, बारह सौ में तय हो गया। लड़का अच्छा है। देखने-सुनने में भला लगता है। मासिक आय भी अच्छी है। एक आफिस में साठ रुपये माहवार पाता है। घर सम्पन्न और दो भाई हैं। यह छोटा है। मुझे बिन्दो के उपयुक्त···।"

उस दिन बिन्दो की मौसी ने सिन्नी चढ़ाई थी।

और बिन्दो ?

उसके पैर पृथ्वी पर नहीं थे। वह पंख खोल उस दिन आसमान में उड़ रही थी। उसे लगा था, जैसे दुनिया की सारी सम्पत्ति उसे सौंप दी गई हो। उसे ऐसा अनुभव हो रहा था, उसके अन्दर एक नई शक्ति आ गई है। उस समय वह उन्हें देखने को···। कैसे होंगे वे, उनका स्वरूप, उनकी वाणी और न जाने वह क्या-क्या कल्पना कर रही थी। उसमें नई स्फूर्ति-सी आ गई थी। अपने देवता के श्रीचरणों में मस्तक रख रोयेगी—और खूब रोयेगी और इतना आँसुओं का पानी बहायेगी कि वे उससे सराबोर हो जायेंगे। जब वे उसे अपने दोनों कृपा-भरे हाथों से उठा कर पूछेंगे—"अरे, तू पगली तो नहीं हो गई, जो इतना रो रही है ?" तब वह

कह देगी, बिना किसी सङ्कोच के—"यही 'रोना' मेरा आज तक अपना साथी रहा है, आज मैं सदैव के लिए इसे अपने पास से विदा करती हूँ। अब आपकी ही पूजा करूँगी। आपकी ही होकर रहूँगी। आपका सुख मेरा सुख होगा और आपका दुःख—ईश्वर न करे वह हम लोगों के निकट आये—मेरा दुःख होगा !—हम दोनों ही उससे···।"

उस दिन, रात को, वह अच्छी तरह सो भी नहीं सकी। पिछले जीवन की कठिन तपश्चर्या का स्मरण कर कातर हो उठी। किन्तु उज्ज्वल भविष्य की कल्पना कर, वह कम प्रसन्न भी नहीं हुई।···स्वामी ! स्वामी···और केवल स्वामी !···यही मूर्ति, कल्पना के रूप में, उसके नेत्रों में झूमती रहती।

दिन उड़ते गये और विवाह भी धूमधाम से सम्पन्न हो गया।

[३]

यहाँ, अपने नवीन गृह में, उसे भोजन-वस्त्र के लिए चिन्ता नहीं है। लेकिन मानसिक उलझनें दिन-प्रति-दिन बढ़ती ही जा रही हैं। कभी भी उसने, स्वप्न में भी, यह कल्पना नहीं की थी—वे रूखे होंगे ! उससे वे खुल कर बोलेंगे भी नहीं !

और आज वह सोचती है—उसका कल्पना विश्व ही भूकम्प के एक धक्के से सर्वथा नष्ट हो गया है। उसके लिए न यहाँ स्थान है, न वहाँ ! वह संसार में घृणा और उपेक्षा की पात्री है। उसके निकट संसार का सुख कुछ भी मूल्य नहीं

रखता। उसे अब अपने जीवन से घृणा हो गई है। सोचती है—मानव, मानव के मरने के पश्चात् उसकी चिता लगाता है, लेकिन उसने अपने जीवन-काल ही में अपने लिए—लकड़ियों की नहीं—दुःख की चिता लगा ली है। उसी की रङ्गीन लपटों में वह जलती रहती है।

और उस दिन प्रातःकाल की घटना···?

काँप गया उसका शरीर!—ओह! वे लाल-लाल, भयानक आँखें! बाल अस्त-व्यस्त! कपड़ों में कई जगह पान के छींटे पड़ गए हैं! बदबू, बदबू···!

एक भारी 'छीः-छीः' ने उसके हृदय को ढक लिया।

यह कैसी लपट है? मुँह से यह वारुणी-जैसी दुर्गन्धि क्या आ रही है? क्या ये ढालते भी हैं, पीते भी हैं? क्या यह भी अपने को मानव कहने का दावा पेश कर सकते हैं?

नहीं, नहीं, नहीं!

भारी भ्रम में उसका जीवन पड़ गया।

उनके पैर लड़खड़ा रहे हैं। कल, संध्या को, जो वेतन मिला है, आज सुबह जब वे लौट कर आये हैं···तो···?

थोड़ी देर तक बेहोश पड़े रहे। बकते रहे—तुम मेरी बनने योग्य नहीं हो।···कुमारी शीला···?

बिन्दो की समझ में सब कुछ आ गया। पढ़े-लिखे लोग भी ऐसे कर्म कर सकते हैं···।

और फिर वह चार-चार दिन घर से गायब रहने लगे।

बड़े भाई ने अपना कर्त्तव्य-पालन किया, पर···

और उस दिन ?

बिन्दो ने कहा था—"तुम्हें ऐसे काम शोभा नहीं देते !"

सड़्-सड़्-सड़् बेतों से उसकी पूजा हुई थी। शरीर सूज गया था। बुखार भी तीन दिन बराबर···और वह, उस स्थिति में भी रोती ही रही !

उन्होंने आँखें चढ़ा कर कहा था—"ले, अब तुझे, इस जीवन में दुबारा अपना मुँह नहीं दिखाऊँगा। न इस शहर में रहूँगा। न तेरी बात करूँगा। तू इसी योग्य है। तू मेरे सुख में···"

बेचारी बिन्दो को क्या पता था कि वे इस समय, सब बातें सच ही कह रहे हैं !

मोटर-दुर्घटना ! घर में कोहराम मच गया। शराब के नशे में मस्त, शीला के साथ, एक मोटर में कहीं घूमने निकले थे। उस समय उन्हें अपने-पराये का ज्ञान न था। मोटर पेड़ से टकरा, चकनाचूर हो गई थी। शीशे शरीर भर में चुभ गये थे। शरीर का सारा लहू बाहर निकल गया था और तब उनके अन्तिम दर्शन कर, वह सोचने लगी थी—"ले, अब तुझे, इस जीवन में, दुबारा अपना मुँह नहीं दिखाऊँगा।"

दिन आते हैं, चले जाते हैं ! दुनिया में कहाँ सुख है, कहाँ आनन्द, वह नहीं जानती ! वह जानती केवल इतना भर है, जीवन दुःख है, रोना है। उसका शरीर भी

स्वस्थ नहीं रहता ! अब वह बड़े भाई के परिवार में एक सेविका के रूप में है। खाना दे देते हैं, काम ले लेते हैं।

उस दिन उसकी मन:स्थिति बहुत खराब हो गई थी। जी ऊब उठा था। मौसिया के यहाँ जाना चाहती थी। चोरी से उसने अपने मौसिया को एक पत्र लिखाया था—"मेरा जी यहाँ रहते-रहते ऊब उठा है। मौसी को देखना चाहती हूँ।···घर की सेजगाड़ी भेज दो, मैं चली आऊँ !···मुन्नू, आशा है, आनन्द से होगा।"

[४]

ऊपर लिखी हुई बातें, घटनाएँ, अब बहुत दूर जा पड़ी हैं। उनके सुनने और समझने का न तो किसी के पास समय है और न इच्छा ही ! और बीती बातों पर विचार करना भी क्या ? उनसे किसी का स्वार्थ-साधन ही क्या हो सकता है ? आज सुना है—बिन्दो, इधर तीन-चार मास से टी० बी० रोग से ग्रसित थी। शरीर सूख कर काँटा हो गया था।···तीन बजे शाम को, अचानक ही, कल उसका देहान्त हो गया।···एक ओर उसके मौसिया सेजगाड़ी लिए खड़े थे और दूसरी ओर उसकी अर्थी···

उसने अपने मौसिया को लिखा भी तो था—"मेरा जी यहाँ रहते-रहते ऊब उठा है।···घर की सेजगाड़ी भेज दो···!"

और सच ही वह सेजगाड़ी पर जा रही है। कहाँ ? रामजाने !

मार्च '४०

रात बीत गयी। ... थों, जागते-जागते और कौड़ी फेकते-फेकते सबेरा हो गया। धाम का सारा धन आँधी में तिनके के समान उड़ गया ... के नशे की खुमारी कुछ हल्की हुई। अपने को देखा, ... फड़ को देखा और सारे जुआड़ियों को अपने-अपने दाँव ... ने गुरा राग अलापते सुना। उसके सामने की दुनिया वैसी ही हरी-भरी और हँस रही है। वही एक दीन है, वही एक हेय है और वही एक सर्वत्र ... की घृणा का पात्र है। तब उसे अपने प्रति घृणा उत्पन्न हुई और विद्रोह भी जाग्रत हुआ। सोचने लगा—अर्जी कौड़ी आज तक किसकी हुई है ? वह तो छलना है ! लेकिन नहीं, एक बार और चेष्टा करनी चाहिये।

मित्रों से कहा। वे बोले—जुवाड़ी और वेश्या का क्या भरोसा ? रुपये उधार देने के लिए नहीं हैं। दोस्ती जुआ खेलाने के लिए नहीं की !"

अपना-सा मुँह लेकर गिरधारी आगे बढ़ा। उसके पैर ठीक-ठीक न पड़ रहे थे। हृदय चञ्चल था। अपना दाँव और कौड़ी उसके मस्तिष्क में नाच रही थीं।

पत्नी क्या कहेगी ?—सोचने लगा—उसका सारा धन मैं

ले आया था। उससे कहा था—"जितना ले जाऊँगा, उसका ड्योढ़ा तुझे दूँगा !"

पान की दूकान आ गयी। छबीली, गिरधारी को देख मुस्करायी। दूर से ही बोली—"लाओ, आज तो कुछ दो। दीवाली का खर्च तो चले। रोज यों ही टाला-झांसा देते आये, आज लेकर ही छोड़ूँगी।"

बोला गिरधारी—"मेरे पास क्या रक्खा है, छबीली ! सब स्वाहा किये चला आ रहा हूँ। अच्छा, ला दे चार गिलौड़ियाँ और एक पैकेट कवेण्डर !"

"क्या सूरत बनी है, बल्लाह ! काबिले तारीफ !" छबीली बोली।

"तू सच ही बेहया हो गयी है, छबीली !" गिरधारी बोला। उसके मुँह पर मिट्टी छा गयी थी। आँखों में नींद भरी थी और वे लाल हो रही थीं। मुँह के दोनों किनारों से पान की पीक बहकर सूख गयी। दाढ़ी बढ़ रही थी और गिरधारी रह-रहकर उसे खुजला देता था।

पान की गिलौड़ियाँ मुँह में रक्खीं और सिगरेट जला, एक कश खींच, लापरवाही के साथ आगे बढ़ा। पीछे से आवाज आयी—"म्याँ पैसे दिये जाओ।"

"नहीं है ! पास में एक फूटी कौड़ी भी नहीं है !"

"बाप का माल है न ? खाया और चल पड़े !"

गिरधारी हँस पड़ा। उसकी हँसी में एक गहरी असमर्थता और बेबसी भरी थी।

छबीली बोली—"बेशर्मी की हँसी मुझे नहीं अच्छी लगती। जा, चुल्लू भर पानी में कहीं डूब मर !"

"जबान सँभाल, छबीली !" गिरधारी लौट पड़ा।

"चल, चल, ले जा अपनी कमीनी सूरत।"

"मूली-सा काट दूँगा, छबीली ! जैसी तेरी जबान तेज है, वैसी ही मेरी करौली !" और गिरधारी के हाथ में नङ्गी करौली नाचने लगी।

"बस इसीसे जीतते हो !" छबीली चुप हो रही।

"एक पैकेट कवेण्डर और !" बोला गिरधारी !

घृणा तथा भय के साथ एक पैकेट सिगरेट उसके सामने आ गिरा।

"हाँ, यह सब मेरा माल है। मेरे बाप का माल है।"

छबीली कुछ न बोली। गिरधारी ठहाका मारकर हँस पड़ा। सिगरेट का दूसरा पैकेट पान की दूकान पर फेंक आगे बढ़ चला। सोचने लगा—कितनी बुरी बात है। एक क्षण बाद फिर वह अपनी स्थिति में आ गया।

घर निकट आता-जा रहा था और गिरधारी की स्थिति बदलती जाती थी। पत्नी, प्रायः डेढ़ वर्ष से, जीर्णज्वर से पीड़ित है। उसके शरीर की एक-एक हड्डी देखी जा सकती है, उसके शरीर पर एक भी ठीक वस्त्र नहीं है। लेकिन एक गिरधारी है

जिसे दीन-दुनिया की कुछ भी फिक्र नहीं। घर में आज आटा है, तो दाल नहीं,दाल है, तो नमक नहीं। धेले की दवा लाना उसके लिए हराम है।

घर आकर देखता है—पत्नी बेहोश-सी है। बोला—"क्यों, क्या तबीयत ज्यादा खराब है, आज ?"

लम्बी साँस लेकर, आँखों की दोनों कोरों से आँसू बहाते पत्नी बोली—"तुम सुखी हो? अबकी जीते ?"

"नहीं, हार गया। बिलकुल खाली हाथ लौटा हूँ।"

"क्या कहा, सब हार गये ?"

"सब ! कुछ भी पास नहीं रहा !"

पत्नी किसी तरह उठ कर बैठ गयी। बोली—"अब ?"

"सोचता हूँ, अगर कुछ और मिल जाता, तो सब—हारा धन—वापस ले आता। जहाँ लगातार दो हाथ कौड़ी आयी कि सब रुपया वसूल है।"

पत्नी ने शरीर के शेष आभूषण उतार कर दे दिये। सारा जीवन उसका इसी प्रकार व्यतीत हो गया है और वह अपने पति को किसी प्रकार ठीक नहीं कर सकी।

गिरधारी ने सब आभूषण समेट लिये। महाजन के यहाँ बेचकर जुए की फड़ पर फिर जा डटा। सभी शत्रु, मित्र हो गये। दाँव लगने लगे। बुझती हुई फड़ में गिरधारी ने नयी जान-सी डाल दी। सभी के चेहरे खुशी से खिल उठे।

लगातार कई घण्टे कौड़ी से गिरधारी का युद्ध होता रहा

और अन्त में फिर वह बेवकूफ-सा खाली हाथ उठ खड़ा हुआ। उसके सामने अँधेरा छा रहा था। पथ नहीं सूझ रहा था। कानों के परदे फट-से रहे थे। कोई कह रहा था--"और जुआ खेलेगा। बड़ा चला जुआ खेलने वाला। कौड़ी किसी की हुई है?"

पीड़ा असह्य हो गयी। पैर डगमगा रहे थे। गिरधारी शराब की दूकान पर पहुँचा। देशी शराब का एक अद्धा बगल में दबाये घर आया।

देखा, पत्नी ढेर हो गयी है।

खूब ठहाका मारकर गिरधारी हँसा। शराब की बोतल खोली और घूँट-घूँट कर ढालने लगा। बीच-बीच में बोल उठता—"चलो छुट्टी मिली!"

जब नशा जोर पकड़ने लगा, तो उसका स्वर तेज पड़ने लगा और भाँति-भाँति की बेहूदी आवाजें गिरधारी की जबान से निकलने लगीं।

लोग अवाक् थे। अन्दर गये। देखा—पत्नी मरी पड़ी थी और गिरधारी बाहर गड़बड़ मचाये था। वह बार-बार चिल्ला उठता—"ऐसे पतित पति को जीवित रहने का अधिकार नहीं है, नहीं है।"

और लोगों के देखते ही देखते गिरधारी ने मकान में आग लगा दी। धुआँ उठा, लपटें बढ़ीं और फिर वे आसमान को छू-छूकर चूमने लगीं।

वह कह रहा था—"अब इस घर का क्या होगा ?"

लोग हैरान थे।

गिरधारी कह रहा था—"मुझे कुछ भी नहीं चाहिये। मैं बादशाह हूँ, शाहंशाह !" वह लपटों को देखता था और नशे की हालत में ताली पीट-पीट कर कभी हँसता था और कभी पत्नी का नाम ले-लेकर रोता था। पत्नी श्मशान नहीं ले जायी गयी। उसीमें खाक हो गयी।

और दूसरे दिन गिरधारी उस शहर में नहीं दिखलाई पड़ा। बेहद पता लगाने पर भी लोगों को, उसके सैकड़ों जुआड़ी मित्रों को, उसकी चरण-रज तक नहीं मिल सकी।

इस दीपावली से प्रायः पन्द्रह वर्ष पूरे हो गये हैं! उस गिरधारी का पता चिन्ह तक नहीं है। जब कभी दीवाली आ जाती है शहर के कोने-कोने में उसके दर्दनाक अन्त की कहानी लोगों के तर्क और कटु आलोचना का विषय बन जाती है।

कुछ लोग उसे भला कहते हैं, कुछ लोग उसे बुरा कहते हैं। मैं आज तक यह नहीं समझ सका हूँ, कि गिरधारी भला था या बुरा था।

नवम्बर '४४

अगला क़दम

मुकुल ने दिल्ली जाते समय मुझे अपनी प्रायः सभी पुस्तकें सौंप दीं। पुस्तकों के बीच उसकी डायरी भी थी, जिसमें वह अपना दैनिक कार्यक्रम नोट किया करता था।

उस दिन मैं चुपचाप अपने कमरे में बैठा चाय पी रहा था। पानी की झड़ी लगी थी। सोचता था—पानी बन्द हो जाय, तो अपने मित्र गोपाल के यहाँ चल दूँ और वहाँ उससे साहित्यिक विषय पर कुछ वाद-विवाद करूँ। लेकिन पानी न थमा और न थमा। मेरी सारी आशाओं और विचारों पर पानी ने पानी फेर दिया। सोचने लगा—'अब क्या करूँ?' क्योंकि मैं चुपचाप, एक स्थान पर, बैठने का आदी जो नहीं! कुछ-न-कुछ करते रहना ही मेरे जीवन की गति बन गयी है। अतएव मैंने अपने मित्र मुकुल की पुस्तकें उलटना शुरू कर दिया। पहले-पहल उसकी डायरी मेरे हाथ लगी। उस पर काला कवर चढ़ा हुआ था। मैंने उसे ध्यानपूर्वक, एक ओर से दूसरी ओर तक पढ़ जाने का निश्चय किया। यद्यपि मुकुल कई बार मुझे विश्वास दिला चुका है कि मेरे जीवन की एक भी बात तुमसे छिपी नहीं है, तथापि मैंने उसकी बात पर मन-ही-मन विश्वास करते हुए डायरी के पृष्ठ उलटने शुरू कर दिये। डायरी के लगभग आधे भाग तक मुझे कोई ऐसी

आकर्षक बात अथवा घटना दृष्टिगोचर नहीं हुई जो उसने मुझसे छिपा रक्खी हो। परन्तु एक स्थल पर अनेक विचित्र। बातें लिखी हुई थीं, जिन्हें पढ़कर आश्चर्य-चकित-सा बैठा रह गया। सोचने लगा—क्या मुकुल ऐसा भी हो सकता है ? क्या उसमें इतनी सामर्थ्य नहीं कि वह अपने आपको, अपने मन प्राण को, समय आ पड़ने पर, सँभाल सके ? क्या निरा अबोध बालक ही बना रहेगा वह ?

डायरी में लिखा था—"सूर्योदय हुआ। उषा ने अम्बर में लाली बिखेर दी। किरणजाल बड़ा सुहावना प्रतीत होता था। पक्षियों के मधुर कलरव से आकाश गूँज उठा। मन्द मलयानिल के चटुल झकोरे डोलने लगे। तबीयत में आया फूलबाग की ओर चल दूँ। किन्तु मन ने कहा—नहीं आज सेण्ट्रल स्टेशन की ओर। यद्यपि वायु-सेवन के लिए वह स्थान उपयुक्त नहीं कहा जा सकता, पर मन की पुकार से लाचार होकर, उसी के अनुकूल कार्य करना पड़ा। यहाँ आने से एक तो मुझे बहुत दूर-दूर से आये यात्रियों की बोली-वाणी का ज्ञान होता रहता है और दूसरे हमारी आधुनिक शिक्षा-प्रणाली देशवासियों के लिए किस हद तक लाभदायक सिद्ध हो सकती है, इसका भी थोड़ा-बहुत अनुमान यहाँ लगाया जा सकता है।

नित्यप्रति की भाँति मैं स्टेशन की ओर चल पड़ा। चूँकि अभी बड़ा सबेरा था, अतएव सड़कों पर मुझे नीरवता के

अतिरिक्त और कुछ भी नजर नहीं आया। स्टेशन पहुँचते ही प्लेटफार्म-टिकट खरीदा और दूसरे ही क्षण प्लेटफार्म पर जा पहुँचा। शायद झाँसी एक्सप्रेस आ रही थी। जन-कोलाहल पूर्ण वह स्थान, उस समय, बहुत सुन्दर प्रतीत हो रहा था। बैठकर चाय पीने लगा। देखते ही देखते गाड़ी आ गयी। मुसाफिर चढ़ने उतरने लगे। दुनिया भी एक मुसाफिर खाना है, यहाँ भी यात्री आते-जाते रहते हैं। मैं गाड़ी के एक छोर से दूसरे छोर तक चक्कर लगा आया। फिर बुक-स्टाल पर आकर एक भोली लड़की की ओर देखता रहा। शायद मैंने उसे और कहीं देखा है—निकट से—ऐसा प्रतीत हुआ। लेकिन उससे कुछ पूछने और बातचीत करने की हिम्मत न हुई।

पहले—इसके पूर्व—मैंने उसे इस रूप और आकार में नहीं पाया था। अब उसके शरीर पर यौवन की चञ्चलता थी। नेत्रों में······आकर्षण-भावना! कुछ-कुछ गम्भीरता लिये हुए आकृति, कपोलों पर यौवन की अरुणिमा! धीरे धीरे, सँभाल-सँभाल कर वह चलती थी और मेरी ओर देखती जाती थी, मुड़-मुड़कर······जैसे वह मुझमें कुछ अपनापन-सा पा रही हो।

मैंने उसे और ध्यान से देखना चाहा, क्योंकि मुझे ऐसा लग रहा था, सम्भवतः यह मेरे यहाँ आ चुकी है। मैं इसे अच्छी तरह जानता हूँ। परन्तु एक लम्बे अरसे के कारण

मैं बहुत-सी बातें भूल···चुका था। ठीक-ठीक याद न आ रहा था।

वह मुझसे कुछ ही फासले पर थी। मैंने उसके मुख से सुना—'अम्मा ?'

'क्या है ?'

'जैसे यह मुकुल लगता है। देखो तो······।'

मैं उसके पीछे-पीछे चला जा रहा था।

उसकी माँ ने मुड़कर, आश्चर्य प्रकट करते हुए, मेरी ओर देखा—'अरे, तू मुकुल ?'

'आप कौन ?—रमा की माँ तो नहीं ?'

रमा जो अब तक मेरी ओर जिज्ञासा-भरी दृष्टि से देख रही थी, मेरे निकट आकर बोली—'आपने पहचाना भी खूब ! हाँ अपने को कोई भूल भी सकता है ?'

'हाँ, अपने को कोई भूल भी सकता है ?'—यह बात कई बार मेरे हृदय में घूम गयी। रमा की माँ के नेत्रों में आँसू डबडबा आये।—'हाँ' कह कर बोली—'मुकुल ! तुम्हारा खिलौना मुन्नू अब नहीं रहा।'

रमा कुछ सहम-सी गयी। मैं भी इस दुःखद सम्वाद को सुनकर रुआँसा हो गया। हठात् अपने आँसुओं को रोककर मैंने कहा—'ईश्वर को वैसा ही करना था। चिन्ता करने से······।' इसके आगे मैं एक शब्द भी नहीं बोल सका।

हाँ, यहाँ इस परिवार का कुछ थोड़ा-सा पूर्वपरिचय दे

देना अनुचित न होगा। यह परिवार मेरे मकान के ठीक सामने, सड़क के पल्लीपार, रहता था। रमाकान्त बाबू इस परिवार के सर्वेसर्वा थे। उनके दो सन्तानें थीं—यही रमा और बालक मुन्नू।

विधि की इच्छा! शहर में हैजे का भीषण प्रकोप हुआ। रमाकान्त बाबू की उसी में मृत्यु हो गयी। अब इस परिवार का भरण-पोषण करनेवाला कोई भी नहीं रहा। अतएव कुछ समय तक यह परिवार मेरे यहाँ अतिथि के रूप में रहा। रमा तब छोटी थी, मुन्नू शिशु।

लगभग दो मास पश्चात् रमा के मामा उस परिवार को अपने यहाँ बुला ले गये और वहीं से यह अधूरा परिवार आज न जाने कहाँ जा रहा था।

रमा की माँ से पूछा—'एक लम्बे अरसे के बाद आप लोग यहाँ लौटी हैं।'

'हाँ, लगभग आठ साल होने को आये।'—उत्तर मिला।

'तो रमा की पढ़ाई आदि का प्रबन्ध······?'

'हाँ, पढ़ाई चल रही है। मामा बड़े दयालु हैं। वही पढ़ाते-लिखाते हैं। इस साल मैट्रिक कर चुकी है।' कहकर वे आगे बढ़ गयीं।

मैंने पूछा—'अब कहाँ?'

'धर्मशाला!'

'वाह! ऐसा भी कभी हो सकता है? घर छोड़ कर धर्म-

शाला की शरण ली जाय, यह कहाँ का न्याय है? आपको मेरे घर चलना ही होगा।'

वे कुछ हिचकिचाहट के साथ राजी हो गयीं।

शाम को मैं अपने 'रीडिंग रूम' में बैठा था। मेरी छोटी बहिन भागीरथी दौड़ती आयी और बोली—'भैया, लड्डू खिलाओगे न?'

'क्यों?' मैंने पूछा।

'तुम्हारी शादी जो ठीक हो रही है। भाभी को तो इसीलिए स्टेशन से अपने कन्धों पर ले आये हो। बड़ी सुन्दर, भली हैं वह!'

'चल-पगली!' कह कर उसे हटा दिया। लेकिन भागीरथी द्वारा लाया गया समाचार मेरे हृदय में गुदगुदी पैदा करने लगा। सोचा क्या यह सच है?······पिताजी······। सम्बन्ध बुरा नहीं है। रमा भी शिक्षित है।

उठकर बातचीत सुनने की आशा से घर में घुस गया। पिता जी बहुत धीरे-धीरे बोल रहे थे, किन्तु रमा की माँ का स्वर ऊँचा था। वे कह रही थीं—'शम्भू बाबू, मेरा भी बेड़ा पार लग जायगा। देवी है यह रमा, बड़ी योग्य! पढ़ी-लिखी, तुम्हारे मुकुल के अनुकूल। यदि तुम इसे अपनी बहू के रूप में स्वीकार कर लो, तो मुझे मुक्ति मिल जाय! अरे हाँ, रमा बोझ ही है। मैं भी अब बूढ़ी······

पिताजी के शब्दों में मन्दता थी, वे रुक-रुककर, जोर लगा

लगाकर, बोल रहे थे। मानों वे इस शुष्क विषय को और नहीं बढ़ाना चाहते थे। उनकी मुख-मुद्रा अतिशय मलिन हो गयी थी और फिर, इस सम्बन्ध से उन्हें मिलता ही क्या? अच्छी रकम भी तो हाथ न लगती। उनकी सारी आशाएँ मुझ पर, मेरे विवाह पर थीं। माँ से वे अक्सर कहा करते थे—'मुकुल की शादी अभी नहीं करूँगा। तनिक ठहर कर, तब तक वह एम० ए० हो जायगा। कौन ज्यादा देर है, दो ही साल का तो फेर है। दहेज भी······। विचार करता हूँ, [illegible] सात हजार मिल जायें, तो एक मकान और बनवा लूँ। [illegible] हजार घर से लगा दूँगा। दस हजार में तो एक अच्छी कोठा बन जायगी।'

शायद उनकी इसी आशा को रमा की माँ निराशा में परिणत कर रही थीं। इसीलिए वे चुप थे। किन्तु मैं मन-ही-मन झुँझला रहा था। हृदय में आया आगे बढ़कर—धैर्य के साथ—रमा की माँ से कह दूँ—'जिस गर्व के साथ मैं आपको स्टेशन से लाया हूँ, उसी गर्व के साथ मैं आपके इस प्रस्ताव को भी स्वीकार करता हूँ। मुझे धन न चाहिये। मैं धन के लोभ में पड़कर किसी अभागिनी की इस तरह दुर्दशा नहीं देख सकता। मुझे अपना जीवन सुखी बनाना है। गृहस्थ-जीवन को उन्नत करना है। भारत की जर्जरित एवं ध्वस्त रूढ़ियों पर नवीनता का सुदृढ़ भवन निर्माण करना है। विवाह पैसा पैदा करने का साधन नहीं है। विवाह के द्वारा विवाह में प्राप्त

दहेज के बल पर, मकान नहीं बनाये जाते। ईश्वर ने हाथ-पैर दिये हैं। इन्हीं की मदद से मैं अमित धन वैभव प्राप्त करूँगा। और इस प्रकार के सैकड़ों मकान बनवा लूँगा!' लेकिन उसी समय मेरी अतिशय स्नेहशीला माँ वहाँ आ गयी। बोलीं—'क्या सुनता है रे मुकुल?' मैं किंचित् घृणा और लज्जा के भाव प्रकट कर, 'कुछ नहीं' कह अपने रीडिंग-रूम की ओर चल पड़ा।

शनैः-शनैः रात्रि होने लगी। मैंने देखा—पिता जी का चेहरा अपनी विजय पर आनन्द से सराबोर है। किन्तु रमा और उसकी माँ के चेहरे पर जैसे मुर्दनी-सी छाकर रह गयी हो। मुझे उनका अधिक ध्यान था, क्योंकि मैं अपने जीवन के प्रारम्भ काल से ही सुधारवादी मनोवृत्ति का व्यक्ति रहा हूँ।

पिताजी ने मुझसे अन्यमनस्क रहने का कारण पूछा। उन्हें पता लग चुका था कि मैंने उनकी बातचीत सुन ली है। अतः वे देखना यह चाहते थे कि मैं उनके बिचारों से कहाँ तक सहमत हूँ। मैंने बात टाल दी। किन्तु रमा की भाव-निमज्जित मुद्रा मेरे अन्तस्तल से नहीं निकल सकी। उसका चित्र, इस समय, मेरे हृदय में गहरा उतरता जा रहा था।

रात्रि को अवसर पाकर मैंने रमा से पूछा—'आखिर तुम्हारे एकदम से सूख जाने का कारण क्या है?'

अपनी आँखों में आँसू भरकर उसने कहा—'जिसे मैं अपना समझे हुए थी……'

'और तुम रोती हो रमा, मेरे सामने ?'

'हाँ, अब मुझे जीवन भर रोना-ही-रोना रह गया है। मामा दहेज देते अवश्य लेकिन समय की वक्रदृष्टि ने उनके सारे धन को मिट्टी में मिला दिया है।—अब वे दिवालिया हो गये हैं। कर्ज़ उन पर है। ऐसी दशा में······।'

रमा के आँसू अवाध गति से बह रहे थे। आँसुओं के जल से उसके कपोल भीग रहे थे। नेत्र लाल हो गये थे। वह मूर्छित, अधीर-सी, होती जा रही थी।

मैंने उसे सँभाल लिया। उसके अतिशय त्रस्त लोचन मुझसे कुछ भिक्षा-याचना कर रहे थे। उसके आँसू, विद्युत-प्रकाश में हीरे की तरह चमक रहे थे। मस्तक पर हाथ रक्खा मैंने।—'ओह !' मेरे मुख से निकला—'बुखार है तुम्हें।'

कुछ सोचने के पश्चात्, आवेश में आकर मैंने उससे कहा—'मैं तुम्हीं से कहता हूँ, मैं पुरुष हूँ, पुरुष। भले ही सारा संसार, माँ-बाप और भाई-बन्धु सर पटककर मर जायँ, अब मैं यावज्जीवन······। जिस देवी की मंजुलमूर्ति अपने हृदय-मंदिर में प्रतिष्ठित कर चुका हूँ, उसकी जीवन-भर आराधना करता रहूँगा। कहीं भी रहो, तुम मेरी···अपनी ··हो।'

रमा में कुछ जान-सी आ गयी, इस क्षण। परन्तु दो मिनट पश्चात् ही वह शिथिल, मूर्छित हो फिर गिर पड़ी।

उस समय मेरे हृदय में धड़कन हो रही थी और हृदय की गति भी तीव्र हो चली थी।

× × ×

उसकी डायरी के पाँच-सात पृष्ठ पढ़ जाने के पश्चात् आज, इस समय, मुझे मुकुल के विवाह न करने का रहस्य मालूम हुआ। यद्यपि कई बार उसने इस सम्बन्ध में कुछ कहने की चेष्टा-सी की, पर कहते-कहते ठहर गया। मैंने इस बात को जानने की अधिक चेष्टा भी नहीं की। कई बार उसने मुझसे कहा भी है—'जिन बातों से मेरी आत्मा की शान्ति भङ्ग हो जाती है, आप कृपाकर उन्हें पूछने या जानने की तकलीफ न किया करें।'—और मैंने उसके इस प्रस्ताव को स्वीकार भी कर लिया था।

लेकिन इधर प्रायः दो सप्ताह से मुकुल के जो पत्र मेरे पास आ रहे हैं, उनमें जैसे उसका अस्तित्व ही न हो। एक-एक शब्द और एक-एक वाक्य वेदना-जल से भीगा हुआ है। इन पत्रों में उसका प्रकृत स्वरूप बिखरा-बिखरा-सा, खोया-खोया-सा प्रतीत होता है। ऐसा भी लगता है कि वह पथ-भ्रान्त हो गया है। लक्ष्यभ्रष्ट तीर की तरह वह इधर-उधर भटक रहा है। वह प्रकाश की ओर बढ़ता है, पर उसे मिलता है अन्धकार!—गहन अन्धकार!! उसके विचार बिलकुल उलझे और वेदना की गहरी छाप लिये हैं। पग-पगपर वह तिलमिला उठता है, जैसे उसका अस्तित्व नष्ट हो चुका है।

आज उसका चित्र एकाएक मेरे समक्ष घूम गया। उसके जीवन का अन्त भी कितनी कठोरता लिये हुए है। मेरे नाम

उसका जो अन्तिम पत्र आया था, वह भी आज मेरे पास सुरक्षित है, जिसे मैं कई बार, पढ़-पढ़ कर रो उठा हूँ।

[अन्तिम पत्र]

'भैया,

इस समय मैं अर्ध-विक्षिप्तावस्था में तुम्हें यह पत्र लिख रहा हूँ। न भी लिखता, पर तुम्हारा मेरे जीवन से बहुत पवित्र सम्बन्ध रहा है। अतएव जो कुछ भी समझ में—गलत सही—आ रहा है, लिख रहा हूँ। मुझे अच्छी तरह विदित है, जिन्दगी एक निद्रा है। मेरी भी इस निद्रा का अन्त होगा ही, एक दिन, जैसे कि रमा ···और··· ! माना मैं पागल हूँ, किन्तु क्या कभी भी तुम इस पागलपन के असल कारण को खोज सके हो?—नहीं।

मेरी लेखनी आगे नहीं चल रही है। शायद वह भी मेरी ही भाँति पागल बनने को विह्वल है। और क्या पागल की दुनिया का प्रत्येक पदार्थ पागल होता है; या यों कह लो वह प्रत्येक वस्तु में पागलपन की भावना के दर्शन करता है।··· मेरा जीवन, मेरा अध्ययन,······माँ-बाप से लड़ाई···दिल्ली भागना···रमा को देख-देखकर जीना···और रमा का उत्तर···मुझे छोड़कर···इस प्रकार···। तुम्हें मालूम होगा, मैं उसके बिना एक क्षण भी जीवित नहीं रह सकता।···वह असहाय थी, उसके आगे-पीछे कोई नहीं था।···तुम मेरे लिए आँसू नहीं बहाना अन्यथा मेरी आत्मा को क्लेश होगा।

यदि तुम इस घटना का रहस्य जानना चाहो, तो अपने पास रक्खी हुई मेरी डायरी के पृष्ठों को…"

पत्र अधूरा था। सम्भव है, वह लिखते-लिखते बेहोश हो गया हो या उसने और आगे लिखने की जरूरत न समझी हो। कुछ भी हो, पत्र अधूरा था, अधूरा ही रहेगा—पूरा कभी नहीं हो सकता। लेकिन मानव जीवन भी तो अधूरा ही है। उसी समय पत्र पाते ही मैं उसके घर की ओर दौड़ पड़ा, किन्तु घर के लोग घबराये हुए थे और उन्होंने मेरे किसी भी प्रश्न का उत्तर नहीं दिया। सभी यही कहते सुने जाते थे—"हाय! यह गजब हो गया! ऐसा पढ़ा-लिखा युवक!"

मैं चुपचाप, व्यथा भार लिए वापस लौट रहा था, परन्तु पैर आगे नहीं बढ़ रहे थे और हृदय हाहाकार कर रहा था।

अगस्त '३६

उदारता

ठाकुर लाखनसिंह के कई मुसल्लिम गाँव थे और आना-पाई वाले गाँवों की भी कमी न थी। परिवार धन-धान्य पूर्ण एवं सम्पन्न था। जब कभी ठाकुर साहब तहसील-वसूल करने के लिये अपने विशाल भवन से बाहर जाते थे, सङ्ग में कई डेरे वेश्याओं और नर्तकियों के ले जाते थे। मुंशी और जिलेदार अपने काम में—लगान वसूली में—व्यस्त रहते और ठाकुर साहब उन वेश्याओं के साथ अपना मनोरंजन किया करते थे। उनका नृत्य-सम्बन्धी प्रबन्ध सराहनीय था। वे शराब पीकर महफिल में तशरीफ लाते और बड़ी गम्भीर मुद्रा से वेश्याओं की भाव भङ्गी का अवलोकन किया करते। उनके सामने सभी वेश्यायें एक ही 'ड्रेस' में आती थीं। यहाँ तक कि उनके नूपुरों का तागा भी एक ही रङ्ग का होता था।

ठाकुर लाखनसिंह कितने ही विवाह कर सकते थे, क्योंकि लक्ष्मी की उन पर अटूट कृपा थी; किन्तु उन्होंने अपने जीवन में केवल दो ही विवाह किये थे। दोनों ही विवाहित स्त्रियाँ अब भी जीवित हैं। पहली स्त्री को ठाकुर साहब के दूसरे विवाह पर हार्दिक क्लेश हुआ; परन्तु सच तो यह है कि उनके डर के सामने वे एक शब्द भी बोलने में असमर्थ थीं और किसी

प्रकार की चूँ-चपट किये बिना ही उन्होंने ठाकुर साहब को विवाह करने की अनुमति दे दी। दुःख और वेदना को उन्होंने अपने अन्दर ही दफन कर लिया।

दूसरी स्त्री के आने पर घर में असन्तोष की अग्नि प्रज्ज्वलित होने लगी। इसका कारण यह था कि ठाकुर साहब की दूसरी स्त्री अधिक लावण्यमयी और सुन्दर थी। इसके फलस्वरूप ठाकुर साहब का पहली स्त्री के प्रति प्रेम का घट जाना स्वाभाविक ही था। वे दिन रात उसी स्त्री के कोमल-पाश में सुख-निंदिया लिया करते और उसी के चारु-नेत्रों के चकोर बन जाते थे। यह पहली स्त्री से सहन नहीं होता था; किन्तु उसके लिये कोई अन्य मार्ग ही नहीं था। वह करती क्या? बेचारी अपने दिल को यह कहकर समझा लेती थी—ऐसा ही तो होता आया है। पति से ईर्ष्या-द्वेष करना एक हिन्दू-नारी के लिये सर्वथा वर्जित है। जिस प्रकार उसके पति को सुख मिल सके, उसे वही उपाय करना चाहिए। लेकिन इस प्रकार के विमर्शों से भी उसका हृदय सन्तुष्ट नहीं हो पाता था। कारण, दोनों एक ही श्रेणी की थीं और उनमें से एक को उच्च-आसन प्रदान किया जाय और दूसरी दूध की मक्खी की तरह बाहर फेंक दिया जाय, यही समस्या पहली स्त्री के हृदय में काँटा बनकर खटक जाती थी। यद्यपि उसकी कृत्रिम आकृति ने ठाकुर साहब को अपनी ओर आकृष्ट किया, तथापि वे सुरा के बल पर अकड़े रहे। शनैः-शनै ठाकुर

साहब और उनकी पहली स्त्री के बीच का प्रेम-बन्धन शिथिल हो चला और पहली स्त्री को ठाकुर साहब की ओर से निराश हो जाना पड़ा।

× × ×

शारदीय विभावरी का चारों ओर अखण्ड साम्राज्य था। मृदुल समीरण के झकोरों से आनन्द की मन्दाकिनी प्रवाहित थी और पृथ्वी की छटा नयनाभिराम! ऐसा प्रतीत होता था, पृथ्वी के विशाल वक्षस्थल पर दूध सी श्वेत चादर बिछा दी गई हो। पहरेदार ठाकुर साहब के भव्य भवन के चारों ओर पहरा लगा रहे थे।

लाखनसिंह अपने कमरे में अकेले ही थे। क्योंकि उनकी दूसरी पत्नी अपने मायके गई हुई थी। ठाकुर साहब की दृष्टि नक्षत्रों की चादर का निरीक्षण करने में अस्त-व्यस्त थी कि पहली पत्नी, जिसे ठाकुर साहब ने एक तरह से त्याग ही दिया था, अन्दर आई। ठाकुर साहब के कमरे का मौन भङ्ग हो गया और करवट बदलने पर उनकी गम्भीर दृष्टि अपनी पत्नी पर जा पड़ी। उन्हें मानों काठ मार गया हो; लेकिन फिर भी वे उठकर अपनी शैया पर बैठ गये और पत्नी के शुभ्र प्रशस्त ललाट की रेखाओं को जैसे गिनने लगे हों।

पत्नी दया की कोर से अपने देवता स्वरूप पति की ओर झुक पड़ी, मानों उस हिरणी को कोई अधिक परेशान कर रहा हो। ठाकुर साहब अपने को न सँभाल सके और उनका कण्ठ

दुःख से अवरुद्ध हो गया। उन्होंने अपनी इस पत्नी की ऐसी दशा की कभी कल्पना भी नहीं की थी। वे अभी तक यही समझते आये थे कि जिस प्रकार वे आनन्द की लोल लहरियों पर तैरते-उतराते हैं, उसी प्रकार वह भी यौवन के झोकों में विहार करती होगी। लेकिन उनकी यह धारणा सर्वथा मिथ्या थी; केवल भ्रम मात्र! पत्नी को स्तब्ध देखकर उन्हें कहना पड़ा—"तुम इतनी उदास क्यों हो?"

यह वाक्य उसके हृदय में तीर के समान चुभ गया। वह अपने पति में अच्छी तरह अनुप्राणित होने के लिये लालायित थी। कितनी आशाओं-अभिलाषाओं को लेकर वह अपने पति के पाद-पद्मों में गिरकर क्षमा-याचना करने आई थी, यह कौन जान सकता है? पत्नी के लोल-लोचन वेदना के अश्रुकणों से तरल हो गये और उसने बड़ी आत्मीयता से कह दिया—"पहले मुझे क्षमा दान दो।" यह कहकर उसने पति के चरणों को पकड़ लिया।

इस अवस्था में ठाकुर साहब का मानस डिग उठा। इसी पत्नी को उन्होंने कितने प्रेम के साथ, प्यार के साथ, अपनी जीवन संगिनी के रूप में पाया था और अब वह तिरस्कृत की जाती है, इस बात ने ठाकुर साहब को कुछ सचेत-सा किया। उन्हें भलीभाँति स्मरण हुआ कि उन्होंने अपने जीवन के बाईस वर्ष हँसते-खेलते इसी असाधारण एवं पतिपरायण नारी के स्नेह-पाश में व्यतीत किये हैं। किन्तु इस स्थल पर मानवता

दुर्बल-सी हुई जा रही है। स्मरणशक्ति धोखा दे रही है और न जाने यह क्यों ?

ठाकुर लाखनसिंह ने बड़े स्नेह से पत्नी को हृदय से लगा लिया और क्षीण शब्दों में कहा—"रंज करने की जरूरत ही क्या ?"

—"रञ्ज करने की जरूरत ?" उन्हीं के शब्दों को दोहराते हुए पत्नी ने कहा—"मैं विष खाकर मर जाऊँगी।"

—"और मैं क्या करूँगा ?"

—"आपको कष्ट ही क्या होगा ?"

—"क्यों ? यह कैसे कहा ?"

"मै बराबर देखती जो हूँ!" पत्नी के नेत्र अश्रुपूर्ण हो गये।

अभी तक लाखनसिंह के ऊपर सुरा ने विजय नहीं पाई थी, लेकिन अब नशे के चिन्ह उनके प्रतिभा-प्रदीप मुख-मंडल पर अगणित तारों की भाँति अंकित होने लगे। आँखें रह-रह कर खुलतीं और बन्द हो जातीं। जिह्वा भी बोलने में असमर्थता प्रगट कर रही थी। पत्नी भाँप गई कि अब उनसे बातें करना व्यर्थ है। वह शांत भाव से उनकी ओर देखने लगी कि इतने ही में वे बोल पड़े—"बसुमती ! तुम रोती हो ? ऐसा भी कहीं होता है ? तुम आज······से······मेरी······छोटी······ बहिन······हो !"

बसुमती वहाँ, उस क्षण, अधिक न बैठ सकी और अन्त में एक घोर पीड़ा ले लौट आयी।

× × ×

दिन बीतने लगे। 'वसुमती' के जीवन-उद्यान में कितने ही वसन्त आये और चले गये। होली आई और वह भी अपना शुभ सन्देश सुनाकर अतीत के धूमिल चित्रों में विलीन हो गयी। ठाकुर साहब की दूसरी पत्नी भी अपने मायके से लौट आई है। इसका नाम 'इन्द्रमती' है। लाखनसिंह की भव्य अट्टालिका में एक ओर चैन की बंशी बजती और दूसरी ओर वेदना की लहरें तरङ्गित होतीं। 'वसुमती'—पहली पत्नी का जीवन मरु-स्थल की तरह शुष्क एवं मिट्टी की तरह व्यर्थ हो गया था। उसका रूप घुल-घुलकर पानी की तरह बह चला। वह सदैव चिन्ता सागर में डूबी रहती थी। अपने हृदय की न जाने कितनी आकांक्षाओं को चुपचाप गले के घाट से उतार गई। उसके भी हृदय था, जो रह-रहकर यौवन के चरम उद्वेलन से प्रकंपित हो जाता था। संसार में उसे अभी बहुत कुछ देखने को अव-शेष था। किन्तु विधि का विधान! दूसरी स्त्री 'इन्द्रमती' भी इसे फूटी आँखों नहीं देखना चाहती थी। उसने कई बार प्रयत्न किये कि 'वसुमती' को दूसरे घर में रहने की आज्ञा दे दी जाय, क्योंकि उससे उनके सुख में बाधा पहुँचने का उसे बोध होता था। लेकिन ठाकुर लाखनसिंह इच्छा रखते हुए भी ऐसा न कर सके; क्योंकि लोक-लज्जा का भय उनके सम्मुख मूर्तित हो जाता था।

× × ×

सन्ध्या के चार बजे होंगे। ठाकुर लाखनसिंह अपने इष्ट-

मित्रों सहित अपने बाहरी घर के बैठके में, वेश्याओं का नृत्य देख रहे थे। उनकी अतिशय स्नेहशीला पत्नी 'इन्द्रमती' भी उन्हीं की बगल में विद्यमान थी। ठाकुर साहब के सामने शराब की बोतलें सजी रक्खी थीं। शीशे के पैमाने भी रक्खे थे। इन्हीं में सुरा उँडेल-उँडेल कर पी जा रही थी। तबले की ठनक, मंजीरे की झनक और गौराङ्गी परियों की मृदुल स्वर लहरी का सम्मिश्रण उनके लिए अनन्त सुख की सृष्टि कर रहा था। ठाकुर साहब के कमरे में एक नवीन युग का पदार्पण-सा हुआ था। चारों ओर चहल-पहल थी। ज्यों ही अमुक वेश्या ठाकुर साहब की ओर बंकिम भ्रूक्षेप कर लजीली हँसी हँस देती, वे बेकाबू हो जाते, संसार से सैकड़ों मील परे चले जाते और अपनी 'इन्द्रमती' को अपनी छाती से लगा लेते थे। इसी बीच खजाँची महाशय छपे हुये कागजों की, रजत सिक्कों की वृष्टि कर देते और कुछ सम्पत्ति अपनी पाकेट में डाल लेते। क्योंकि नृत्य समाप्त हो जाने के पश्चात् वे यह कह सकते थे कि, अमुक गाँव की तहसील-वसूल का धन अमुक वेश्या को, उन्हीं की आज्ञानुसार दे दिया गया है। इससे खजाँची महाशय का भी स्वार्थ-साधन होने लगा। उनके लिए तो यही स्वर्ण-अवसर था क्योंकि ठाकुर साहब जैसे रईस उनके स्वामी थे। शराब की अधिकता के कारण ठाकुर साहब अपना हिसाब-किताब भी नहीं देख सकते थे। सच तो यह है, वे इसी शराब के गुलाम बन बैठे थे। उन्हें संसार की रत्ती भर भी चिंता न थी।

'वसुमती' दरवाजे की ओट से इस नारकीय दृश्य को देखकर मन-ही-मन क्षोभ कर रही थी। उसका हृदय घृणा एवं पश्चाताप से भर गया। उसे 'इन्द्रमती' पर क्रोध आया कि वह अपने पति को इस प्रकार, आशाओं के जाल में डालकर, पथ-भ्रष्ट कर रही है किन्तु बाद में 'इन्द्रमती' के प्रति उसके हृदय में दया का उद्रेक हुआ। वह भली-भाँति जानती थी कि 'इन्द्रमती' अपने पति के साथ खिलवाड़ करती है। स्त्री का अपने पति के प्रति क्या कर्तव्य है, उसे यतकिंचित् भी विदित नहीं! उसने चाहा कि वह अन्दर घुस जाय और वेश्याओं, खजां-चियों और ठाकुर साहब के घनिष्ट मित्रों को, जो क्षण-प्रतिक्षण सुरा ढाल रहे थे, आड़े हाथ ले तथा दस-पाँच खरी-खोटी उस अधम नीच 'इन्द्रमती' को भी सुनाए; लेकिन ऐसा करने का भी साहस उसे नहीं हुआ और उबलती हुई अपने कमरे में प्रवेश कर गई।

नृत्य समाप्त होने पर उसने चाहा कि वह ठाकुर साहब के पास जाकर विनीत प्रार्थना करे कि उनके सभी कार्य अनुचित हो रहे हैं। संसार देखकर हँसता है। वह अपने कमरे से चल भी पड़ी। किन्तु रास्ते में हृदय ने कह दिया, वे किसी प्रकार की बात नहीं सुन सकते। उनसे प्रार्थना करना सब व्यर्थ है, फिर भी वह अपने कर्तव्य की ओर झुकी और आगे बढ़ी।

ठाकुर लाखनसिंह अपने कमरे में बैठे हुए, इतमीनान के साथ, सुरा पान कर रहे थे और रह-रहकर सिगरेट का

कश खींचकर धुयें के बादलों को ऊपर उड़ा रहे थे। उनकी 'इन्द्रमती', जिसे उन्होंने प्राणरूप में पाया था, बगल की शोभा बढ़ा रही थी। 'बसुमती' को सहसा वहाँ देखकर ठाकुर साहब आश्चर्य-चकित से बैठे रह गये। उन्हें विदित हो गया, आज दाल में कुछ काला है, जिसके लिए 'वसुमती' वहाँ जा पहुँची है। ठाकुर साहब आदर-सहित उसे बिठला कर इस बात की जिज्ञासा की, उसके पधारने का कारण क्या है? 'इन्द्रमती' उसे एक क्षण भी अपने पास नहीं देखना चाहती थी। वह इसे भी सहन न कर सकती थी कि वह तिरस्कृता ठाकुर साहब से बात-चीत कर उसके हृदय की शांति भङ्ग करे। उसने उसी समय कह डाला—"रानी साहबा! कृपा करके अभी बात-चीत न कीजिये। ठाकुर साहब की तबियत ठीक नहीं है।" इस व्यंग्य कटाक्ष ने बसुमती' को अत्यधिक क्षुब्ध और विवश-विपन्न कर दिया। वह सोचने लगी कि क्या ठाकुर साहब पर 'बसुमती' का अब रत्ती भर भी अधिकार नहीं है। वह ऐसी कातर और 'इन्द्रमती' की दया की भिखारिणी क्यों बन गई है? या वह उसी के समकक्ष बैठने की अधिकारिणी है? जिस ओज के साथ, जिस गर्व के साथ और जिस दर्प के साथ 'इन्द्रमती' ने उसे ठाकुर साहब से बातचीत करने की अनुमति नहीं दी है, ठीक उसी प्रकार वह भी कह सकती थी—"रानी साहबा! आप बीच में बोलने का कष्ट न कीजिये।" लेकिन वह नारी थी, जिसे शान्ति, क्षमा और संतोष ही वरदान रूप में

मिले थे। उसने 'इन्द्रमती' के कटुव्यंग्य को धैर्य के साथ सुन कर, कृत्रिम मुस्किराहट के साथ क्षीण स्वर में कह दिया—"कुछ जरूरी बातें करनी हैं। आप आज्ञा तो दे ही दें।"

—"बड़ी निर्लज्ज और बेशऊर मालूम होती हो। कुछ कम सुनाई देता है क्या? कह तो दिया, इनकी तबियत ठीक नहीं है।"

बीच ही में ठाकुर साहब मुस्किरा दिये और रूखी आवाज में कहा—"ठीक कहती है इन्दु! मैं आज बातचीत नहीं कर सकता। सर में दर्द हो रहा है, 'बसुमती'!"

'बसुमती' हताश हो गई। उसने लक्ष किया कि 'इन्दुमती' अपनी विजय पर गिलहरी की तरह उछल रही है। 'बसुमती' ने एक बार फिर कहा—"आपसे जरूरी काम है।" उसके यह कहते-न-कहते 'इन्द्रमती' गर्जन-तर्जन के साथ बोली—इन्हीं कर्मों से तेरी यह दशा हुई है। निकल जा यहाँ से।" ठाकुर साहब इस झगड़े को शान्त करना चाहते थे, किन्तु जब उन्होंने देखा कि अभी उसकी 'इन्द्रमती' ही लोहा ले रही है, तो वे चुप रहे।

—"क्योंकर निकल जाऊँ यहाँ से?" बसुमती ने कहा—"इन पर हमारा भी अधिकार है।"

इस वाक्य ने ठाकुर साहब के क्रोध को जागृत कर दिया। इस स्थल पर 'इन्द्रमती' की मर्यादा पर कुठाराघात होता जान-

कर उन्होंने 'वसुमती' की पीठ पर, धड़ाक से, लात जड़ दी और वह बेचारी पाषाणवत् लुढ़ककर एक ओर जा गिरी। उसके काफी चोट आ गई थी और नेत्रों के ऊपर का कुछ अंश कट-सा गया था। उसकी सारी, जिससे वह अपने कमनीय कलेवर को ढके हुए थी, अस्तव्यस्त अवस्था में, पानी से एकदम भीग गई। उसने ठाकुर साहब को यह कहते हुए सुना—"जबान लड़ाने आई थी!"

इस पदाघात को सहकर वह चुपचाप चल दी। जब वह इस दशा में अपने कमरे की ओर जा रही थी कि ठाकुर साहब के खजाञ्ची रामाधार बाबू उसे रास्ते ही में मिल गये और अदब तहजीब के साथ, अपनी बत्तीसी खोलकर, पूछ बैठे—"क्या हुआ रानी साहबा?"

रामाधार के इस प्रश्न को जैसे 'वसुमती' ने सुना ही न हो। वह बे-रोक-टोक, बिना कुछ उत्तर दिये ही, आगे बढ़ गई और दूसरे ही क्षण अपने कमरे में जा पहुँची।

× × ×

तीन महीने बाद।

ठाकुर साहब के गाँव में यह बात बिजली की तरह फैल गई कि अधिक और आवश्यकता से अधिक शराब सेवन करने से ठाकुर लाखनसिंह का 'हार्ट-फेल' हो गया है। चारों ओर शोक के बादल-छा गए। हजारों की संख्या में लोग उनके दरवाजे पर एकत्रित हो गये। इस स्थल पर यह कह देना

अनुचित न होगा कि ठाकुर साहब का अपनी प्रजा के प्रति व्यवहार अधिक कठोर न था। अन्य जमींदारों की तरह वे किसी का मानापमान नहीं करते थे और न किसी को मार-पीटकर, मुर्गा बनाकर, अपना लगान आदि ही वसूल करते थे। इसलिये जनता की उन पर श्रद्धा थी तथा वह भी अपना मानवोचित कर्तव्य समझकर, उनके दरवाजे, उन्हें अंतिम श्रद्धाञ्जलि भेंट करने आई थी। सभी के नेत्रों में सावन-भादों की नदियाँ उमड़ रही थीं। लोग शोकातुर हो उठे थे और शराबी मित्र अपना सर जमीन पर पटक रहे थे। 'बसुमती' की दयनीय दशा का वर्णन करना कठिन है। वह किंकर्तव्य-विमूढ़ की भाँति, चुपचाप बैठी थी। रोते-रोते थक जाने के कारण न तो उसमें हिलने की शक्ति थी, न बोलने की क्षमता थी और न वह अब अधिक रो ही सकती थी। लेकिन ठाकुर साहब की दूसरी पत्नी—'इन्द्रमती' को इनकी मृत्यु पर अधिक शोक न हुआ। उसके लिये ठाकुर साहब का मरना-न-मरना बराबर था। वह स्वार्थ साधन के वशीभूत थी। उसके लिये राज-पाट का सुख ही सब कुछ था।

ठाकुर साहब की अन्त्येष्टि-क्रिया भी सम्पन्न हो गई।

× × ×

ठाकुर लाखनसिंह अपनी मृत्यु के पश्चात् लगभग सभी जायदाद सुरक्षित छोड़ गये थे। अत्यधिक दैनिक खर्च के बावजूद भी उन पर किसी का ऋण नहीं था। परिवार में

यथेष्ठ सम्पत्ति छोड़कर स्वर्गवासी हुए थे। कुर्सी, टेविल, खेमें और सोने-चाँदी के बर्तन जैसे-के-तैसे रक्खे थे। लेकिन अब विद्रोह का झण्डा परिवार में फहराने लगा। दोनों स्त्रियों में पहले से ही विद्वेष था, किन्तु ठाकुर साहब के सामने वे एक दूसरे से खुलकर नहीं लड़-झगड़ पाती थीं। अब यह स्वर्णावसर इनके हाथ लगा। प्रतिद्वन्द्विता भीषण रूप धारण करने लगी। 'वसुमती' बहुत कम भाग लेती थी। कारण—ठाकुर साहब के उठ जाने से उसके हृदय की सारी आशायें क्षत-विक्षत हो गई थीं। किसी प्रकार अपने जीवन को व्यतीत कर देना ही अब उसके जीवन का प्रमुख उद्देश्य था। उसे किसी भी वस्तु की इच्छा न थी। वह अक्सर दुःख के संघर्षमय विश्व में खो जाती थी। मन-ही-मन कहती—"जब वे ही नहीं हैं, तो मेरा जीवन व्यर्थ है। संसार की प्रत्येक वस्तु मेरे लिये मिट्टी है। मुझे अब कुछ भी नहीं चाहिए। लेकिन मैं 'इन्द्रमती' को भी किसी प्रकार का क्लेश नहीं देना चाहती हूँ ?"

एक दिन, किसी से 'वसुमती' ने सुना कि 'इन्द्रमती' की तबियत कुछ खराब है। अपने कमरे से, चादर लेकर, वह उसे देखने के लिये चल पड़ी। रास्ते में वह सोचती जाती थी कि कहीं ऐसा न हो कि वह बुरा मान जाय। फिर भी यह उसका कर्तव्य था कि उसे देखने वह एक बार अवश्य जाय।

उसने देखा 'इन्द्रमती' खाट पर सर लटकाये पड़ी है। दो-चार स्त्रियाँ उसे घेरे हुए बैठी हैं। वे उनसे धीरे-धीरे कुछ

वार्तालाप कर रही हैं कि इतने ही में वह भी पहुँच गई। 'बसुमती' को देखते ही वह आगबबूला हो गई। 'बसुमती' पास ही बैठ गई और बड़ी आत्मीयता से पूछ दिया—"अब तो तबियत ठीक है न ?" उसका इतना कहना ही था कि, जो कुछ उसने मार्ग में सोचा था, वही हुआ। 'इन्द्रमती' बिगड़कर अपनी त्योरियों को चढ़ा बोली—"उनको खाकर अभी तू भूखी ही है ? मुझे भी जपना चाहती है ? चल, उठ जा मेरे घर से। मैं तेरी कमीनी सूरत एक क्षण भी नहीं देखना चाहती।"

बिना कुछ कहे-सुने-ही 'वसुमती' को उसके घर से उठ जाना पड़ा। गई थी वह दुःख में उसे सान्त्वना देने, मिली उसे करारी फटकार ! फिर भी वह शान्त हो बैठी—यह सोचकर कि उसका भाग्य ही खोटा है।

विद्रोह की ज्वाला यहीं से शान्त नहीं हो गई। 'इन्द्रमती' ने अपने बड़े भाई तेजसिंह को अपने हिस्से की रक्षा के निमित्त बुला लिया और अब वे ही तहसील-वसूल करते थे। इस बात से भी 'बसुमती' को यत्किंचित् क्लेश नहीं हुआ। उसने कहा कि तेजसिंह जिस प्रकार उसके भाई हैं, उसी प्रकार वे मेरे भी हैं !

तेजसिंह गरीब परिवार के थे और एकाएक अच्छी सम्पदा अपने हाथ में पाकर फूले अङ्ग नहीं समाये। जिस प्रकार प्यादा, फर्जी होने पर टेढ़ा-टेढ़ा चलता है, उसी प्रकार तेजसिंह

भोग-विलास की लौह-रज्जुओं से जकड़ गये। मदिरा और माँस ही उनके जीवन के मुख्य खाद्य-पदार्थ बन गये। अपनी छोटी बहिन 'इन्द्रमती' के प्रतिपाल के अलावा वह 'बसुमती' को एक धेला तक नहीं देते थे। 'बसुमती' ने कई बार इस आशय की प्रार्थना की, यदि तेजसिंह उसकी आधी जायदाद की आमदनी उसे नहीं सौंपते तो उसके जीवन-निर्वाह के लिए कुछ अवश्य ही दे दिया करें। लेकिन उसकी यह प्रार्थना अस्वीकृत कर दी गई—यह कहकर कि जो कुछ उसे करना हो अथवा लेना हो, अदालत द्वारा ले।

विवश होकर 'बसुमती' को अपने एक सम्बन्धी की शरण लेनी पड़ी। 'बसुमती' भी एक आदरित घर की नारी है। अब चूँकि उसके पति जीवित नहीं हैं, तो अपने भरण-पोषण के लिए वह किससे याचना करे? उसके पास स्वयं जायदाद है। वह न्याय से उसकी अधिकारिणी हो सकती है। फिर भी उसने अपने कारिन्दा रघुबरसिंह से उन्हें इस बात की चेतावनी दे दी कि वे अनुचित व्यवहार न करें। न्यायपूर्वक जायदाद का आधा भाग उसे सौंप दें। किन्तु इसका कुछ भी परिणाम नहीं निकला और अन्त में उसे रघुबरसिंह को लगान वसूल करने के लिये इलाके में भेजना पड़ा।

इसकी खबर 'इन्द्रमती' को लग गई। उसने तेजसिंह से ऐसा प्रबन्ध करने को कहा कि 'बसुमती' के कारिन्दा का कत्ल

वार्तालाप कर रही हैं कि इतने ही में वह भी पहुँच गई। 'बसुमती' को देखते ही वह आगबबूला हो गई। 'बसुमती' पास ही बैठ गई और बड़ी आत्मीयता से पूछ दिया—"अब तो तबियत ठीक है न ?" उसका इतना कहना ही था कि, जो कुछ उसने मार्ग में सोचा था, वही हुआ। 'इन्द्रमती' बिगड़कर अपनी त्योरियों को चढ़ा बोली—"उनको खाकर अभी तू भूखी ही है ? मुझे भी जपना चाहती है ? चल, उठ जा मेरे घर से। मैं तेरी कमीनी सूरत एक क्षण भी नहीं देखना चाहती।"

बिना कुछ कहे-सुने-ही 'बसुमती' को उसके घर से उठ जाना पड़ा। गई थी वह दुःख में उसे सान्त्वना देने, मिली उसे करारी फटकार! फिर भी वह शान्त हो बैठी—यह सोचकर कि उसका भाग्य ही खोटा है।

विद्रोह की ज्वाला यहीं से शान्त नहीं हो गई। 'इन्द्रमती' ने अपने बड़े भाई तेजसिंह को अपने हिस्से की रक्षा के निमित्त बुला लिया और अब वे ही तहसील-वसूल करते थे। इस बात से भी 'बसुमती' को यत्किंचित् क्लेश नहीं हुआ। उसने कहा कि तेजसिंह जिस प्रकार उसके भाई हैं, उसी प्रकार वे मेरे भी हैं!

तेजसिंह गरीब परिवार के थे और एकाएक अच्छी सम्पदा अपने हाथ में पाकर फूले अङ्ग नहीं समाये। जिस प्रकार प्यादा, फर्जी होने पर टेढ़ा-टेढ़ा चलता है, उसी प्रकार तेजसिंह

भोग-विलास की लौह-रज्जुओं से जकड़ गये। मदिरा और माँस ही उनके जीवन के मुख्य खाद्य-पदार्थ बन गये। अपनी छोटी बहिन 'इन्द्रमती' के प्रतिपाल के अलावा वह 'बसुमती' को एक धेला तक नहीं देते थे। 'बसुमती' ने कई बार इस आशय की प्रार्थना की, यदि तेजसिंह उसकी आधी जायदाद की आमदनी उसे नहीं सौंपते तो उसके जीवन-निर्वाह के लिए कुछ अवश्य ही दे दिया करें। लेकिन उसकी यह प्रार्थना अस्वीकृत कर दी गई—यह कहकर कि जो कुछ उसे करना हो अथवा लेना हो, अदालत द्वारा ले।

विवश होकर 'बसुमती' को अपने एक सम्बन्धी की शरण लेनी पड़ी। 'बसुमती' भी एक आदरित घर की नारी है। अब चूँकि उसके पति जीवित नहीं हैं, तो अपने भरण-पोषण के लिए वह किससे याचना करे? उसके पास स्वयं जायदाद है। वह न्याय से उसकी अधिकारिणी हो सकती है। फिर भी उसने अपने कारिन्दा रघुबरसिंह से उन्हें इस बात की चेतावनी दे दी कि वे अनुचित व्यवहार न करें। न्यायपूर्वक जायदाद का आधा भाग उसे सौंप दें। किन्तु इसका कुछ भी परिणाम नहीं निकला और अन्त में उसे रघुबरसिंह को लगान वसूल करने के लिये इलाके में भेजना पड़ा।

इसकी खबर 'इन्द्रमती' को लग गई। उसने तेजसिंह से ऐसा प्रबन्ध करने को कहा कि 'बसुमती' के कारिन्दा का कत्ल

ही कर दिया जाय और यहीं से झगड़े की इति-श्री कर दी जाय।

तेजसिंह इस प्रस्ताव से पूर्ण सहमत हो गये। उन्होंने सभी प्रबन्ध कर लिये और रघुबरसिंह को तलवार के घाट उतारने को उद्यत हो गये। रघुबरसिंह उस समय सुमेरुपुर में किसानों से लगान वसूल करने में संलग्न था।

× × ×

रात्रि के लगभग साढ़े बारह बजे थे। पृथ्वी अंधकार से ढकी थी। झिल्ली झंकार के अतिरिक्त कुछ भी सुनाई नहीं पड़ता था। सुमेरुपुर से मिला हुआ एक सघन, बीहड़ जंगल था, जिसमें रघुबरसिंह के शत्रु छिपे हुए थे।

रघुबरसिंह अपने डेरे में आनन्द की झपकी ले रहा था। जो कुछ रकम अभी तक उसने वसूल की थी, वह पास ही के एक बाक्स में रक्खी थी। शत्रुदल सशस्त्र आ धमका। लेकिन उसकी आहट से रघुबरसिंह सतर्क नहीं हो सका। वह पूर्ववत् सोता ही रहा। दूसरे ही क्षण रघुबरसिंह का सर धरती पर, गेंद के समान, नाचने लगा। शत्रुओं ने बाक्स में रक्खी हुई रकम को भी निकाला और बन के सघन अन्धकार में नौ-दो-ग्यारह हो गये।

इस समाचार से 'इन्द्रमती' के सुख का पारावार न रहा। वह फूली न समायी। उसके मार्ग का कंटक साफ हो गया। लेकिन 'बसुमती' काली सर्पिणी की भाँति उबल उठी। वह इस

प्रकार के अत्याचारों का किसी प्रकार भी स्वागत करने को तैयार न थी। लेकिन फिर वह करती ही क्या? वह निरवलम्ब, निस्सहाय और दुखिया जो थी। अनन्त धन सम्पत्ति की अधिकारिणी होते हुए भी उसे दुख-सागर में अपनी जीवन-नौका खेने के लिये दूसरों का मुँह ताकना पड़ रहा था। इस अवस्था में उसे क्या करना चाहिए, वह यह नहीं समझ सकती थी। उसके जीवन का प्रकाश भी सदैव के लिये बुझ चुका था। लोग-बाग भी 'वसुमती' का साथ देने के लिये तैयार न थे। क्योंकि निर्बल की सहायता कौन करता है?

रघुबरसिंह के कत्ल हो जाने के पश्चात्, 'इन्द्रमती' के कहने पर, उसके भाई तेजसिंह ने 'बसुमती' को अपने घर से निकाल दिया। वह कुछ दिनों तक एक पड़ोसी के घर में बनी रही और अपना लगभग सभी जेवर बेचकर एक कच्चा मकान बनवाना प्रारम्भ कर दिया। 'बसुमती' के घर का नीचे का भाग बिलकुल बन चुका था, इसलिये वह पड़ोसी को अधिक कष्ट नहीं देना चाहती थी और न भारस्वरूप ही उसके यहाँ रहना चाहती थी।

लेकिन सच तो यह है कि उसका यह सुख भी 'इन्द्रमती' से देखा न गया। उसने एक दिन रात को दस पाँच बद-माशों द्वारा उसके अर्ध-निर्मित घर का भी फैसला करवा दिया। घर गिरा दिया गया। अब यह कार्य 'बसुमती'

की शक्ति के परे का काम था कि वह उस घर को पुनः बनवाए। क्योंकि सारे आभूषण बेच-बाँचकर वह अपने कच्चे घर का इतना भाग बनवा सकी थी।

अब 'बसुमती' का जीवन वेदना से भर गया। मदन गोपाल वकील उसकी सहायता करने को तैयार हुए किन्तु उसने उनसे कहा—"मैं अन्त में अपनी ही सौत से अब लड़ना नहीं चाहती। जो कुछ भी उसने मेरे साथ किया है, मैं उसे क्षमा किये देती हूँ। मैं अपना आधा भाग न्याय से, अदालत के द्वारा ले सकती हूँ, परन्तु उसी का भला हो, इसी में मुझे सुख है। मैं तो यों भी अपने पति के बिना दुखी हूँ, लेकिन यदि 'इन्द्रमती' को मेरे भाग से सन्तोष मिल सकता है, तो वह उसे भी सहर्ष ले सकती है।"

उसके इस कथन पर वकील साहब चकराये। उनके हृदय के अन्दर रह रहकर यही विचार उठता था कि 'बसुमती' का हृदय कितना महान, कितना उच्च और तीर्थ-रेणु की तरह कितना पवित्र है!

× × ×

दस दिन बाद।

सुनने में आया—'बसुमती' अपने जीवन से अत्यधिक ऊब गई थी। एक अधमरे पक्षी की तरह वह अपने पति के वियोग में छटपटाया करती थी। उसका यह कहना था कि जब इस नश्वर विश्व में उसके पति ही नहीं हैं, तो वह स्वयं

ही व्यर्थ के लिये जीवित क्यों रहे? साथ ही उसका जीवन अंधकारपूर्ण जो था। सैकड़ों बीघे पृथ्वी की अधिकारिणी होते हुए भी वह रहने के लिए एक कुटिया बना सकती थी अन्त में जीवन से निराश होकर उसने विष ले लिया और आत्म-हत्या कर ली।

× × ×

जिले के अधिकारियों के पास 'बसुमती' का एक वसीयतनामा पहुँचा है। उसमें इस आशय की चर्चा की गई है कि उसकी जमीन, जायदाद सभी कुछ उसकी सौत 'इन्द्रमती' के नाम, आज ही से सरकारी कागजातों पर चढ़ा दी जाय। वह सहर्ष अपना सब कुछ 'इन्द्रमती' को सौंपती है। उसे किसी प्रकार की आपत्ति न होगी। साथ ही अपने शरीर को सुख देने के लिये, उसने अपनी इच्छा से विष पानकर लिया है। उसके इस अनुचित कार्य पर अधिकारियों को किसी भी व्यक्ति पर सन्देह नहीं करना चाहिए।

जनवरी '४४

छलना

माया,

पत्र तुम्हारा मिल गया। तुमने प्रारम्भ में ही यह लिखकर, मुझे आश्चर्य और आशङ्का में डाल दिया है—'इतने दिन मेरे निकट रह कर भी तुम मुझे नहीं समझ पाये!' पर कैसे कहूँ माया, प्रकृति रूपिणी यह नारी मानव के लिए, सदैव से ही, सृष्टि के प्रारम्भ से ही पहेली—निगूढ़ पहेली—रही है। इतिहास का प्रत्येक पृष्ठ मेरी इस बात की पुष्टि करता है! सच तो यह है माया ज्यों-ज्यों मैंने नारी को छूने, स्पर्श करने की चेष्टा की है, त्यों-त्यों वह तीव्र गति के साथ मुझसे दूर उड़ती गई है। हाँ, ठीक तितली की भाँति! जब मैंने उसे अपने से पृथक् देखा है, दूर दृष्टि दौड़ाई है, तब सदैव ही वह मेरे अन्तर में दुबकी बैठी मिली है। जिस समय मैंने उसे छूने की अनाधिकार चेष्टा की है, उस समय वह गिलहरी की तरह मुझे चकमा दे, दूर भी निकल गई है। बात यहीं से समाप्त नहीं होती माया, इसके आगे भी इस सम्बन्ध को लेकर मुझे कुछ और कहना है। वह यह कि यह नारी अबूझ है, असीम है और अनन्त है। उसका समझना, उसे सीमाबद्ध करना उस विधात्री नारी की मर्यादा का उपहास करना होगा, अपमान करना होगा, साथ ही अपनी बुद्धि······।

[छलना

आज इस कक्ष में घोर सन्नाटा है। इधर-उधर चारों ओर शून्यता छाई हुई है। बरसात प्रायः तीन दिन से लगातार हो रही है। इस समय भी मूसलाधार पानी गिर रहा है। मेरे निकट कवेण्डर सिगरेट का भरा डब्बा है; सामने टेबिल पर कैन्वास-चित्र को तैयार करने के लिए 'कलर-बॉक्स' और तूलिका !—तुम्हें आश्चर्य होगा माया, कलाकारों के निकट जड़-अचेतन पदार्थ भी जीवित हो उठते हैं, बोलते हैं; बात-चीत करते हैं। यह तूलिका आज कुछ कह रही है, बोल रही है। इसकी अपनी एक सत्ता है।......

तुम्हारे पत्र को पढ़ कर आज तबियत कुछ उलझ-सी गई है। न जाने कितनी बातें, कितनी घटनाएँ इस पत्र के पीछे से झाँकती प्रतीत होती हैं। वर्षों की पुरानी पिछली बस्ती में आँखें टिक गई हैं। मैं उस बस्ती की चर्चा कर रहा हूँ जहाँ मैंने दादी और पिता की इच्छा के विरुद्ध केले और अमरूद के पेड़ लगाये थे। कई बार इस सम्बन्ध को लेकर माता जी ने मुझे डाटा था, झिड़का था। कहा था—'तू पागल तो नहीं हो गया उमेश ?'

और मैंने चुपचाप सब कुछ सुन लिया था। सोचता रह गया था—आखिर माता जी की इच्छा क्या है ? क्या चाहती हैं वे मुझसे ? जब मैंने अपने इन प्रश्नों का समाधान अपने में न पाया तो कह दिया—नहीं माँ, पागल थोड़े ही हो गया हूँ मैं !—क्या सभी पेड़ लगाने वाले पागल हुआ करते हैं ? वह

तो एक ऐसी निशानी है कि आदमी के मरने के बाद भी उसकी याद के रूप में दुनिया के सामने खड़ी रहेगी। फिर मैं केवल केले और अमरूद के ही तो पौदे लगा रहा हूँ। इसमें पागलपन की कौन-सी बात है?—वही जब आगे चल कर फल-फूल देंगे तो घर के पैसे बचेंगे। तब तुम कहोगी—हाँ रमेश ठीक ही कहता था!

उनका जी ऊब गया था। कभी भी वह ऐसी बेबुनियाद······! परेशान-सी होकर वे बोलीं—अच्छा ठीक, तू पेड़ लगा, अपनी साध पूरी कर ले! मैं नहीं रोकूँगी तुझे, लेकिन याद रख, उस लड़की से बिलकुल ही न काम लिया कर! बेचारी के हाथ लाल पड़ जाते हैं, पानी छिड़कते-छिड़कते! राम-राम! ऐसी भोली कन्या से तू इतने कड़े काम लेता है? उसका पिता क्या कहता होगा?

'और मैं जो मेहनत करता हूँ? क्या मेरे पिता···?'

'वह बड़े घर की है!'

'और मेरा घर कौन छोटा है? दो सौ आदमी यहाँ भी ठहर सकते हैं?'

'पागल! चल, कल से उसे परेशान न करना।'

मैंने झिझक और सङ्कोच से सर लटका लिया था। जी में बार-बार एक बात उठ रही थी—'वह बड़े घर की है।' इसका अर्थ, जैसा कि उन दिनों मुझे समझना चाहिए था, नहीं समझ सका था। मैं अपने आपसे पूछता था—'वह बड़े घर की कैसे

है ?' जब बात मेरी समझ में न आई थी—तुम्हें याद होगा माया, तभी मैंने तुमसे पूछा था—माँ ने कहा है, तुम बड़े घर की हो, सो कैसे ?

तुमने मुँह बनाया था। शायद तुमने जवाब में यही कहा था—अच्छा चलो, उनको आज सींच दें, नहीं कल सूख जायेंगे।

मैंने ज़िद की थी—न, मैं यहाँ से नहीं हटूँगा; मैं जान ही लूँगा, तुम बड़े घर की कैसे हो ?

'सुनो, वह देखो, मेरा घर सब के घरों से ऊँचा है। उसकी दीवारें तुम्हारे घर की दीवारों से दुगुनी ऊँची हैं; बस ऐसे मैं बड़े घर की हूँ।'

'बस ?'

'बस !'

और तुम्हें यह भी याद होगा, हम दोनों उसी समय पानी-पौधों में जुट गये थे।

'हाँ, माया प्रदर्शनी वाली बात याद है तुम्हें ?'

अच्छा लो उसे भी कह डालूँ !—मुन्नू उस 'कप' को अपने लिए चाहता था। पूरा 'ट्रे' बहुत ही आकर्षक बना था। यद्यपि उन दिनों मैं सिटी कालेज में अध्ययन करता था, तथापि मेरे पास धन की बहुत कमी थी। पिता जी का आगे चलकर प्लेग के आक्रमण से स्वर्गवास हो गया था। माता जी के पास कोई विशेष सम्पत्ति न थी, मुझे अपने ही परिश्रम से विद्यार्थी-

जीवन की गाड़ी ढकेलनी पड़ती थी। कभी आज फीस की जरूरत है, तो कभी कल 'मेस' के दाम चुकाने हैं। टयूशन किये थे, उन्हीं से काम चल जाता था। हाँ, तो मैं तुमसे प्रदर्शनी की बात कर रहा था। मुझे वह पूरा 'ट्रे' बहुत ही अच्छा लगा, लुभावना और उसमें सब से बड़ी विशेषता यह थी कि एक स्थल पर लिखा था—'माया छलना है।' भले ही यह वाक्य 'मोटो' के रूप में ही उसमें अङ्कित किया गया हो; परन्तु मुझे लगा ऐसा ही था, यह तुम्हें ही लक्ष्य करके पेण्टर ने लिखा है, और तब पाकेट टटोल, आगे दूकान की ओर बढ़ गया था। उससे पूछने पर विदित हुआ उस 'ट्रे' का मूल्य मेरी कल्पना से कई गुना अधिक है। सोचता रहा, सोचता रहा। जी में उस समय स्थिर कर लिया था—आज गरीबी को कुचल दूँगा, मसल डालूँगा। मुझे मूल्य पर विजय पाकर ही रहना है। मैं इसे चाहे जैसे लूँ, लूँगा अवश्य! मुझे उस वस्तु को लेने से कोई नहीं रोक सकता—कोई!

धुआँ फूँकता आगे चल पड़ा। देखा—कपूर टहल रहा है। बहुत सारी चीजें उसने अपने मित्रों को भेंट देने के लिए खरीद रक्खी हैं। मुझे देख बोला—सोचता था रमेश, मैं तेरे लिए क्या...!

'उलझन की इतनी जरूरत ?'

'कलाकार ठहरे। तुम तुम्हारी अपनी कोई विशेष रुचि होगी ?'

'बात सही है, किसी हद तक !'

'बोलो तुम...?'

'चाय पीने वाला मैं, भला उस 'ट्रे' जैसी रोज काम में आने वाली चीज के अलावा और क्या पसन्द करूँगा ?'

और उस 'ट्रे' को लेकर मैंने अपने में विशेष आनन्द का अनुभव किया था।—तीसरे दिन वही 'ट्रे' तुम्हारे पास भेज दिया था। अलग से एक पत्र भी था। उसमें शायद यह वाक्य था—'उसी माया को, जो संसार को छलने के बहाने स्वयं अपने को छलती है।' तुमने उत्तर में उपालम्भ से भरा एक पत्र भेजा था। कई दिनों तक मैं उसे अपने निकट से दूर नहीं कर सकता था। तुम्हें आश्चर्य होगा, वह पत्र मेरे समक्ष आज भी कुछ कह रहा है। हाँ, अभी इस बात को छोड़ता हूँ। मैं उस 'ट्रे' के विषय में ही कहूँगा। मुन्नू और तुममें झगड़ा मच गया था। तुम अपना अधिकार उस पर व्यक्त कर रहीं थीं और मुन्नू को चूँकि वह चीज अच्छी लगी थी, अतएव...। सुना था, आखिर में विजय तुम्हारी ही हुई। मुन्नू बेचारे को मिठाई से ही सन्तोष करना पड़ा था।

अब पिछली रात की बातें भी बिना कहे नहीं रहा जाता। दिन भर के कठिन परिश्रम से थक कर लेटा, तो जी कक्ष की उन सूनी-सूनी-सी दीवारों पर जा टिका। पहले अपने पिछले जीवन पर दृष्टि गई थी, पर उसमें एक भारी उलझन-सी थी, अतः उससे दूर हट आया...। जबलपुर, पावन नर्बदा का

स्वच्छ जल, कल-कल ध्वनि करती लहरियाँ, पर्वत-शृङ्खला कुछ दूर तक। मेरे साथ कैमरा था, तुम थीं और तुम्हारे परिवार के कुछ गुरुजन! सबके चित्र मैंने ही खींचे थे। सभी मेरे पास सँजोए रक्खे हैं। जब कभी जबलपुर की याद आती है, तो तुम्हारे साथ उसे देख लेता हूँ।

तुम्हारे विवाह की कल्पना कर, मुझे बेहद खुशी होती थी···। और एक दिन जब अनायास ही मुझे तुम्हारे पिता जी से यह ज्ञात हुआ कि सचमुच ही तुम्हारा विवाह लाहौर के एक प्रसिद्ध बैरिस्टर से ठीक हो गया है, तो न जाने क्यों उस दिन मैं उन्मन, खिन्न-सा बना रहा! दूसरे और तीसरे दिन तक भी मेरे अन्दर अन्न का एक दाना नहीं जा सका था।

पर आज जब उन पिछली, भूली बातों को सोचता हूँ, तो लगता यही है—उन दिनों मेरी मानसिक कमजोरी बहुत बढ़ गई थी। मुझे ऐसा न सोचना चाहिए था। ख्याल भी न करना चाहिए था।—वह मेरा प्रमाद था—मात्र! तुम्हारे आज के स्वरूप पर खुशी है, सन्तोष! रह गई, जैसा कि तुमने लिखा है, मेरे सुख से रहने की बात; सो तुमसे कुछ छिपा नहीं है माया, तुम मेरे विचारों से परिचय रखती हो। जानती हो तुम, मैं हूँ क्या आखिर?—मैं हूँ किसलिए? मेरा अपना यहाँ है ही क्या? क्यों न मैं अपने आप को सबसे दूर, भिन्न

और पृथक् देखूँ ?—आत्मप्रवञ्चना भी इसे तुम कह सकती हो, पर……

माया, तुमने अभी कलाकार को समझा ही नहीं है।… और सच तो यह है, उसका न समझा जाना ही उसकी विशेषता है ! कलाकार सदैव ही प्रतिक्षण, जलता रहता है। उसके जलते रहने में ही दुनिया का हित है, लाभ है। वह दीपक की ऐसी लौ है, जो जल-जल कर, अन्य लोगों को प्रकाश प्रदान करती है। वह दूसरों के लिए, दूसरों को रास्ता दिखाने के लिए ही, जीवित रहती है। केवल कलाकार ही अपना अणु-अणु प्रयोग की अग्नि में जला कर दुनियाँ को अनुभव, ज्ञान—निस्वार्थ भावना से—वितरण करता है। क्या तुम इसे त्यागी और तपस्वी नहीं स्वीकार करोगी ? उत्तर में उसके अन्दर, दुनिया से कुछ पाने की क्षुद्र भावना तक नहीं आने पाती; ऐसा महान् वह होता है कलाकार ? बुराइयों का विष पी लेता है, भलाइयों का अमृत दूसरों के लिए छोड़ देता है। कहता है—देखो, यह विष है, यह अमृत है।—यदि इस विष का अमुक ढङ्ग से उपयोग किया जायगा तो वह दुनियाँ समाज और जाति के लिए अमृत की भाँति कल्याणकारी होगा और यदि उस अमृत को समाज केवल अमृत मान ही पी लेगा, तो किस प्रकार वह गरल का रूप धारण कर विध्वंस की अग्नि प्रज्वलित कर देगा……।

पत्र में आगे चल कर तुमने लिखा है—"तुम्हारा एक

पत्र उनके हाथ लग गया था।" मुस्करा कर बोले—"रमेश, अभी भी शिशु बना है।"

सच माया, तुम्हारे देवता-स्वरूप पति का विमल हास, उनकी वाणी, स्नेहपूर्ण व्यंग्य आदि विशेषताएँ मेरे निकट विशेष महत्व रखती हैं। कभी भी उन्होंने मुझे अपने से अलग नहीं समझा! पिछली बार, जनवरी मास में, जब मैं तुम्हारे विशेष आग्रह करने पर लाहौर गया था, तब लौटते समय वहाँ से पैर आगे की ओर बढ़ते ही नहीं थे। जी में आता था—अच्छा एक दिन और ठहर लूँ।......पर मानव की असमर्थता भी विचित्र है।

तुम्हारे यहाँ आठ दिन रहा और बड़ा व्यस्त रहा। पिक-निक, कवि-सम्मेलन, नौका-रोहण।......सभी चित्रों को मढ़ाकर मैंने अपने कक्ष में लगा दिया है।......इन चित्रों को देख, सोते समय, मन अतीत की ओर दौड़ जाता है।—पहले, जब मैं तुम्हारे निकट नहीं आया था, तब की वह घटना कितनी मनोहर-सी है। सामने का बड़ा घर। तुम्हारा, अपने दोनों हाथ छज्जे के सहारे टेक, खड़ा होना। गम्भीरतापूर्वक भीड़—सड़क पर चलती भीड़—को देखना। देख-देखकर कुछ सोचना। सलोनी खिलखिल-हँसी को रंगीन साड़ी के छोर से ढकना और फिर भी उसका अन्दर से बाहर की ओर फूट निकलना।

उस दिन मैं अच्छी तरह नहीं सो सका था। तुम्हें इसके लिए मैं दोषी नहीं ठहराता। बात ही कुछ ऐसी हो गई थी।

धुआँ उड़ाता, जब मैं नीचे से निकला तो अनायास ही ऊपर से कङ्कड़ का एक टुकड़ा मेरे निकट आ गिरा था। कुछ आगे बढ़ने पर आवाज भी आई थी—पागल लड़का!

मैं सोचता-सोचता आगे बढ़ा—पागल लड़का।

फिर, न जाने क्यों, पैर अब आगे नहीं बढ़ रहे थे। सोचता लौटा—क्या मैं पागल हूँ?

और, उस समय, जी में आया था—जरूर मैं पागल हूँ!

खैर, ये सब पिछली और पुरानी बातें हैं।

तुम यहाँ प्रश्न कर सकती हो—अच्छा, तो नई बातें ही कहो?

मैं यह कह सकता हूँ—इन बातों को बढ़ाना मुझे अच्छा नहीं लगता।

पर हाँ, एक बात, बस! पत्र समाप्त करता हूँ। तुम्हारे जगदीश का मैंने एक चित्र बनाया है। कल तक वह ठीक हो जायगा। मैं उस पर अपना स्नेह न्योछावर करना चाहता हूँ। यही, इतना ही स्नेह, यदि तुम स्वीकार कर लोगी, मैं अपना सौभाग्य समझूँगा। उसकी हँसी याद कर आज भी मेरा अन्तस्तल खिल उठता है।

तुम में परिवर्तन भी बहुत हुए हैं, माया! सोचकर परेशान होने लगता हूँ, तुम इतनी सङ्कोचशील क्यों हो गई हो? चेहरे पर एक भारी लज्जा······। क्या नारी के लिए, आगे के जीवन

में भी यह जरूरी है ? क्या उसे विद्रोह करने का अवसर नहीं मिलेगा ?

लो, आज ही, अभी, इसी क्षण, तार द्वारा मालूम हुआ है, हम लोगों के साथ खेलनेवाला केशव अपनी जीवन-लीला समाप्त कर गया है। क्यों, कारण नहीं जानता ! पर रेल की पटरी के नीचे अपने को डाल, आत्म-हत्या कर लेने में रहस्य का होना जरूरी। इस सम्बन्ध में तुम क्या कुछ कह सकती हो ? शायद चुप रहना पसन्द करोगी ?

मार्च '४०

तुम्हारा,

रमेश

घटना-चक्र

उसके सर पर बड़े-बड़े बिखरे हुए बाल हैं। ललाम ललाट अतिशय संकुचित हो गया है। शरीर में मांस नहीं दीखता, हड्डियों का ढाँचा भर है। गम्भीरता सर्वथा नष्ट हो गई है। पागल की भाँति वह इधर-उधर घूमता रहता है। अक्सर लोग उसे देख ताली पीटते हैं और कुछ उसे 'सिड़ी अथवा पागल' कहते हैं; लेकिन इन तमाम बातों को वह चुपचाप सुन लेता है और उनके सम्बन्ध में विशेष रूप से क्रियाशील नहीं होता। इसे लोग हेक्टर के नाम से जानते हैं। जाति का यह अँगरेज है।

हेक्टर को अब अपने भोजन-वस्त्र की भी चिन्ता नहीं रहती। शहर वाले उससे भलीभाँति परिचित हो गये हैं। वह एक सम्भ्रान्त घराने का युवक है। परन्तु घटनाचक्र में उलझ जाने के परिणामस्वरूप आज वह इस स्थिति में आ गया है। जहाँ कहीं भी किसी ने भोजन दे दिया, सन्तोषपूर्वक स्वीकार कर लिया। स्वभाव में किंचित् भी क्रोध का पुट नहीं है। प्रकृति विलक्षण हो गयी है। उसके इस असाधारण परिस्थिति में आने की कहानी इस प्रकार बतलाई जाती है।

सीमाप्रान्त में निरंकुश कबीलों का उत्पात जारी था।

उन्हें विदेशियों से बड़ी चिढ़ थी। वे किसी को जीवित नहीं छोड़ते थे और समय-समय पर अँगरेज स्त्रियों को भी कन्दराओं में उठा ले जाते थे। अधिकारियों ने इस बात की भरसक चेष्टा की कि उनकी नादिरशाही का अन्त कर दें; किन्तु वे अपने प्रयास में सफलीभूत न हो सके। उत्पात और बर्बरता उसी प्रकार चलती रही। रात्रि को वे और भी उत्तेजित हो जाते और पहरेदारों तथा संतरियों पर नृशंसतापूर्वक आक्रमण करते। कई उच्च अधिकारियों पर भी उन्होंने आक्रमण किया। जब अधिकारीगण रात्रि को गम्भीर निद्रा में अपने खेमों में सोते रहते, तो मौका ढूँढ़ कर कबीलों के दल उन पर निर्दयता के साथ हमला कर बैठते। अधिकारियों में काफी सनसनी फैल गयी थी, वातावरण अत्यन्त क्षुब्ध हो उठा था।

× × ×

एक दिन की बात है। अधिकारियों ने इस आशय का प्रस्ताव किया कि सीमाप्रान्त में रात्रि के आक्रमणों को जो सैनिक शान्त कर देगा उसे दस हजार रुपये का नकद पुरस्कार और एक रायफल उपहार-स्वरूप दी जायगी। परन्तु इस गुरुतर भार को अपने कन्धों पर बिना कुछ समझे कौन ले लेता? चारों ओर सन्नाटा छाया रहा। सैनिक मौन भाव से निर्वाक खड़े रहे। तब अनायास मौन भङ्ग कर कतार को चीरता हुआ एक सैनिक अधिकारियों के सामने आ खड़ा हुआ और उसने अदब के साथ फौजी ढङ्ग से सलाम किया।

वीर दर्प के साथ बोला—"मैं रात में कबीलों का आक्रमण बन्द कर दूँगा और दावे के साथ कहता हूँ कि मैं इस कार्य को सुचारु रूप से पूरा कर सकूँगा।"

एक बार फिर चारों ओर सन्नाटा छा गया। सैकड़ों लोगों की नजरें उस युवक के तेजपूर्ण चेहरे पर जा टिकीं। उसकी वाणी में दृढ़ता थी, आँखों में तेज और मुँह पर ओज दीप्तिमान था। यही हेक्टर था, जिसका उल्लेख हम ऊपर कर चुके हैं। करतलध्वनि के साथ फौज के एक अफसर ने हेक्टर की पीठ थपथपाई और प्रसन्नतापूर्वक उसको तैयार होकर आने की आज्ञा की।

दूसरे दिन हेक्टर अपने स्थान के लिए चल पड़ा। उसके हृदय में उत्साह था। अनेक पुष्पमालायें उसके कण्ठ के चारों ओर सुशोभित थीं। उसकी वाणी में पहले की अपेक्षा अब अधिक वेग एवं ओज था। नेत्रों से प्रसन्नता और दृढ़ता टपकती थी।

हेक्टर बड़ी सतर्कता के साथ अपना कार्य कर रहा था। रात दिन वह उत्पात को दबाने में प्रयत्नशील रहता। सारी रात वह दौड़ता-धूपता और सोने का नाम न लेता। रात में काम करता, और दिन में कुछ समय के लिए नींद ले लेता। संतरियों को भी रात में न सोने की हिदायत कर दी थी। उसकी आज्ञा का पूर्णरूपेण पालन हो रहा था!

रात्रि को लगभग बारह बजे होंगे। सर्वत्र अन्धकार छाया

हुआ था। कोई भी वस्तु दृष्टिगोचर नहीं होती थी। पहाड़ियों का आकार भूतों जैसा भयानक था। झिल्ली की झङ्कार से हृदय हिल उठता और रोंगटे खड़े हो जाते थे। अज्ञात भय से शरीर काँप उठता था। जङ्गली जानवर इधर-उधर बोलते-फिरते थे। सन्तरी अपने पहरे पर था। वह रह रह कर अपने चारों ओर देखने लगता था, क्योंकि इसके पूर्व कई व्यक्ति असावधानी के कारण कबीलों द्वारा गिरफ्तार किए जा चुके थे। इस गलती की आवृत्ति हो, यह उसे पसन्द न था। संतरी ने एकाएक देखा कि एक काला भयानक जीव उसके समक्ष खड़ा है। उसकी डरावनी मुद्रा······! वह कुछ झिझका, परन्तु दूसरे ही क्षण उसने अपने कन्धे से रायफल उतारी और साव-धानी से पूछा—"कौन ?"

—" ······"

—"मरना चाहता है ?'

—"···········"

हेक्टर दूसरे खेमें में बैठा कुछ पढ़ रहा था। फौरन बाहर आकर बोला—'शूट कर दो।'

धाँय, धाँय ! सन्तरी ने गोली मार दी। निशाना अचूक था। एक भीमकायजीव उसी स्थल पर धराशायी हो गया। सन्तरी का हृदय प्रसन्नता से फूल गया। हेक्टर ने पूछा—"कौन है ?"

—"एक जानवर की ओट में तीन शत्रु !"

हेक्टर आगे बढ़ा। टार्च की रोशनी में देखा गया कि छर्रे शत्रुओं के शरीर में प्रविष्ट हो चुके थे और एक तो थोड़ी ही देर का मेहमान था। जानवर उसी क्षण मर गया था।

दूसरे दिन, प्रातःकाल इस घटना की बड़ी चर्चा हुई। कबीलों के अन्दर भय और आतङ्क समाने लगा। वे लोग अब अधिक सतर्क हो गए।

अन्धकार छाने लगा। पृथ्वी पर रात्रि नाचने लगी। चारों ओर श्मशान-सा प्रतीत होता था। जङ्गली जानवरों का स्वर चारों ओर गूँजने लगा। कभी-कभी गुफाओं के अन्दर से न जाने कैसी अजीब ध्वनि फूट पड़ती थी। खेमें के पास आग जल रही थी। जाड़ा तो इतना न था, परन्तु खेमें के निकट आग जलने के कारण जङ्गली जीव पास नहीं फटकते थे। दोनों सन्तरी विनोद-वार्ता करते और इधर-उधर जा कर गश्त भी लगा लेते थे।

कुछ क्षण बाद।

धाँय, धाँय! गोलियों की आवाज आई। शायद शत्रुओं की ओर से आक्रमण हुआ था। कल की घटना से वे लोग अत्यधिक उत्तेजित हो उठे थे। हेक्टर बड़बड़ाता अपने खेमें से बाहर आया। गोली की गगनभेदी आवाज अब भी सुदूर प्रान्त में गूंज रही थी। हेक्टर के आश्चर्य का ठिकाना न रहा जब कि उसने देखा—उसके दोनों बहादुर सिपाही मौत के शिकार हो चुके हैं और उनके शरीर से लहू की धारा प्रवाहित है।

प्राय: आध घण्टे पश्चात् एक बार फिर गोली की आवाज आई। चारों ओर सन्नाटा छा गया। हेक्टर की समझ में सब कुछ आ रहा था, पर वह विवश था। तीसरा सन्तरी भी गोली का शिकार हो चुका था। छान-बीन करने पर शत्रु का कोई भी चिन्ह वहाँ दिखलाई नहीं पड़ा। सभी कन्दराओं में छिप गये थे।

दूसरे दिन से और भी सतर्कता के साथ काम करने की आज्ञा की गयी। इधर-उधर सैनिक छिपाए गए। गुफाओं की छान-बीन शुरू हुई। दण्ड दिया जाने लगा और रात के समय पचीसों सैनिक चारों ओर घेरा डाल दिया करते थे।

एक महीने बाद।

कैप्टेन हेक्टर ने कबीलों के विप्लव को शान्त कर दिया है। स्थिति काबू में आ गयी है। लगभग एक मास से कोई दुर्घटना नहीं हुई। चारों ओर शान्ति के चिन्ह दिखलायी देते हैं। किन्तु अब हेक्टर को एकाकी जीवन खटकने लगा है। यहाँ अब उसका जी ऊबने लगा है। हरियाली नाम को चीज के दर्शन दुर्लभ हैं। पर्वतमालाओं के पत्थर उसे काटते हैं। जङ्गली और असभ्य लोगों के बीच अब अधिक ठहरने की इच्छा नहीं है। परतु कर्तव्य के आगे विवश है।

'बड़ा दिन' भी आ पहुँचा। उसने चाहा कि अपनी पत्नी एवं मित्र जोजेफ को बुला ले। जोजेफ का शिकार से अनुराग है। उसे यहाँ आखेट का काफी अवसर प्राप्त हो सकेगा।

जङ्गली जीवों का बाहुल्य और घने जङ्गलों की अधिकता। छुट्टियाँ आनन्दपूर्वक कटेंगी और मनोरञ्जन भी होगा।

× × ×

आदेशानुसार उसका मित्र जोजेफ और उसकी पत्नी मेरिया आ गयी। मित्र का खेमा भी बगल में खड़ा कर दिया गया। मेरिया पति के साथ रहती। मित्र को यह स्थान बहुत ही पसन्द आया। कारण, सारा वातावरण उसके अनुकूल था तथा प्राकृतिक दृश्य भी कम लुभावने न थे।

'बड़े दिन' के एक दिन पूर्व इन तीनों ने यह प्रस्ताव किया कि अगले दिन शिकार खेला जाय।

दूसरे दिन सबके सब आखेट के लिए चल पड़े। निकट ही एक सघन बन था, जिसमें हिंसक जीवों का निवास था। जोजेफ अन्दर जाने लगा। हेक्टर ने कहा—"यह काम खतरे से खाली नहीं है।" परन्तु हेक्टर के कथन की अवज्ञा कर वह अन्दर घुस गया। वह पक्का शिकारी था। बड़ी देर तक वह अन्दर ही रहा। बाहर, पति-पत्नी को भय था कि कहीं जोजेफ जङ्गली जीवों का शिकार न बन जाय। परन्तु वह बहादुर था। ऐसे न जाने कितने जङ्गल उसने अपनी जिन्दगी में छान डाले थे।

धाँय!—गोली की आवाज!

'मुझे भय मालूम होता है।" मेरिया ने हेक्टर से कहा।

अपनी गोद में उसे लेते हुए हेक्टर बोला—"भय की इस समय कोई बात नहीं है। डरो न प्रियतमे!"

—"हेक्टर! हेक्टर!!" अन्दर से आवाज आयी। पत्नी को बाहर छोड़ वह अन्दर घुसा। पत्नी भी पीछे पीछे चलने लगी। दोनों के आश्चर्य की सीमा न रही। देखा—बारह फीट लम्बा एक डरावना शेर अपनी अन्तिम घड़ियाँ गिन रहा है और जोजेफ उसकी पीठ पर खड़ा निर्भीक हँसी हँस रहा है। सभी उस दिन आनन्द के साथ लौट आए।

× × ×

उसी रात को—

सर्वत्र अन्धकार छाया हुआ है। हेक्टर अपने खेमे में बैठा विक्टर ह्यूगो का एक प्रसिद्ध उपन्यास पढ़ रहा है। ठंडा वायु चल रहा है। वह उपन्यास में एक ऐसे स्थल पर है, जहाँ का प्राकृतिक सौंदर्य उसके हृदय को मोहित कर रहा है। पर्वत मालाएँ, पहाड़ी नुकीले वृक्ष और बरफ का गिरना! विचित्र प्रकार के बर्फीले पक्षी!

अनायास ही बाहर से एक जानवर के चीखने की आवाज आई! हेक्टर का ध्यान उधर खिंच गया। उपन्यास एक ओर रखकर वह बाहर आया। अँधेरे में सारी पृथ्वी डूबी हुयी थी। साफ-साफ कुछ भी नहीं दिखलायी पड़ता था। टार्च के प्रकाश में उसने देखा, एक जंगली जानवर पास खड़ा है।

ठाँय! ठाँय!! हेक्टर ने अपनी रायफल से निशाना लगाया।

जोजेफ सो रहा था। उसकी निद्रा भङ्ग हो गयी। फौरन ही बाहर आया।

—"कौन, मित्र हेक्टर ?" उसने पूछा।

"जोजेफ ! तू सो न।"

—"कौन है ?"

—"जंगली जानवर था।"

—"कहाँ, उस ओर ?"

—"हाँ, हाँ, बात क्या है ?"

—"हा ! परमेश्वर ! तूने यह क्या किया ?"

मेरिया उसी के पास बाहर कुछ दूरी पर लेटी हुई थी। जानवर बचकर निकल गया था। गोली के सब छर्रे मेरिया के शरीर में बिंध गए थे और वह ठंढी हो रही थी। लहू निकल रहा था।

विस्फारित नेत्रों से जोजेफ ने कहा—"हाय, हाय, यह क्या किया ?"

हेक्टर किंकर्तव्यविमूढ़-सा खड़ा था जैसे पत्थर की प्रतिमा हो। न आँसू ही बह रहे थे और न·········

उसे प्रतीत हुआ पृथ्वी पर अन्धकार और गहरा होता जा रहा है और मेरिया भीषण अट्टहास कर रही है। कुछ समय पश्चात् वह धड़ाम् से पृथ्वी पर गिर पड़ा और शेष रात संज्ञा-हीन पड़ा रहा।

उस क्षण से वह पागल हो गया है। उसका ज्ञान, धैर्य और दृढ़ता न जाने कहाँ चली गयी है।

कभी-कभी वह घण्टों हँसता ही रहता है और जब रोता है तब घण्टों बाल नोच-नाच कर रोता ही रहता है। सर पृथ्वी पर पटक देता है। न दिन को चैन, न रात को नींद। बेकार घूमते रहना ही उसके इस जीवन का उद्देश्य बन गया है।

रात को कभी-कभी वह गाने भी लगता है। लेकिन उसकी भर्राई हुई आवाज में दुख-दर्द की एक कहानी समाई हुई सी ज्ञान पड़ती है। उसका सजल गान अन्धकार में प्रतिध्वनित होकर सर्वत्र फैल जाता है।

नवम्बर '४०

अन्धकार

सावन की घनी अँधेरी रात! झमाझम मूसलाधार वर्षा! सन्नाटा। अथाह शान्ति-सागर में डूबी किशोरी लखनऊ नगरी। उत्तर दिशा की ओर पावन गोमती का गम्भीर प्रवाह और कल-कल ध्वनि गुञ्जित असंख्य तरङ्ग-मालिकाएँ! तट पर अवस्थित एक अति भव्य बँगला हरे-हरे, लहलहाते हुए लता-वितानों से आमण्डित, चारों ओर एक छोटी-सी वाटिका है और उसके चारों ओर चहारदीवारी! मुख्य द्वार पर एक चमचमाता पीतल का बोर्ड लगा है। लिखा है—'डॉ० निखिलचन्द्र चक्रवर्ती, एम० बी०, बी० एस०।' रात्रि के अखण्ड सन्नाटे में 'नाइटक्वीन' की भीनी, मधुर खुशबू आस-पास के वातावरण को आन्दोलित कर रही है।

कोमल मीनाक्षी के अन्दर एकत्र अन्धकार जैसे चहुँ ओर व्याप्त होकर, एकाकार हो गया हो। सोते-सोते हड़बड़ा उठी, उठ बैठी, सिहर गया उसका लोम-लोम—ओह! सावन की इतनी काली भयानक रात्रि!—झमाझम मूसलाधार वर्षा! आया सोई हुई है। कमरे में अन्धकार है और वह भी विधि-लिपि जैसा अमिट, अखण्ड!

भीता हरिणी-सी वह प्रगाढ़ अन्धकार में डूबे कमरे के चहुँ ओर कुछ टटोलने लगी। अन्धकार, बाहर-भीतर

और चहुँ ओर अन्धकार ! उसे ऐसा भान हुआ, जैसे इसके अतिरिक्त इस निखिल विश्व में और कुछ है ही नहीं। सब कुछ उसी काले प्रकाश में सोया हुआ-सा, गुमसुम, लगता हो। अकेली नारी मीनाक्षी सावन के इस भयानक अन्धकार से कुछ पूछती है, कुछ कहती है और उत्तर पा काँप-काँप उठती है। तब उसने स्विच दाब दिया। आलोक-सरिता बह चली। प्रकाश खिल-खिल कर उसका उपहास करने लगा। अनायास उसके जी में आया—ऐसा ही, ठीक ऐसा ही, स्नेहोज्ज्वल प्रकाश एक दिन हठात् उसके अन्दर आ, अन्धकार बन गया था। बड़ी गम्भीर हो गई इस क्षण मीनाक्षी। आँखें—हीरकोज्ज्वल आँखें—आँसू भर लाईं। मुखाकृति पर विषाद गहरा हो गया। आदमकद दर्पण के ऊपर लगी घड़ी अपनी उसी गति से टिक्-टिक् करती कदम बढ़ा रही थी। आगे बढ़ी। भाल पर रेखाएँ डाल देखने लगी।—ओह, बारह !—आधी रात !!

खिड़की के बाहर झाँक कर देखा—सावन की भयानक काली रात्रि !—झमाझम मूसलाधार वर्षा ! सब कुछ उसी अन्धकार में निर्विकार भावना से, अनुप्राणित हो गया है। प्रकाश भी—उसके जीवन का प्रकाश—उसी अन्धकार के पेट में दुबका छिपा है—निपट शान्ति ! नवल उत्साह से एक बार पुनः पत्र पढ़ने लगी—अपने शोक को उसी में भुलाने की चेष्टा करने लगी—दिन जाते देर नहीं लगती।

खट-पट सुन, बगल में पृथ्वी पर लेटी वृद्धा आया जाग उठी। आँखें भिलमिलाती हुई बोली—"रानी बेटी ?"

"बिलासी !"

"क्यों, क्या है रानी बेटी ? सोओ न, रात्रि बहुत जा चुकी है।"

"सोती हूँ।"—कहते-न-कहते अनेक अमृत-बुन्द, विद्युत-प्रकाश में चमक, उसके वक्ष पर जा गिरे। वह सो सकती है, पर इन अतीत के स्मृति-कणों को, जो आकाश में टिमटिमाते असंख्य तारों की भाँति उसके मानस में बिखर गए हैं, कैसे बाहर, दूर फेंक दे ? जीवन के वे सलोने क्षण मीनाक्षी के अन्दर पूर्ण रूप से घुल-मिल गये हैं।

आया कुछ सोच कर बोली—"क्या बाबू की पत्री है ?"

संकेत से "हाँ" कह दिया।

"क्या लिखा है बेटा ?"

मीनाक्षी चुप थी, चुप बनी रही। परन्तु उसके आँसू आया के प्रश्न का उत्तर दे रहे थे।

"बहुत दिन हो गये बाबू को गये ? आने को कुछ लिखा है ?"

"लिखा है, जल्दी ही लौटेंगे।"

"जल्दी ही लौटेंगे ?"—जैसे अमाङ्गलिक आशंका उसके मुख पर दौड़ गयी हो। बोली वह—"भगवान् रक्षा करें उनकी बेटा ! अब तुम भी सो जाओ······।"

गोमती के कम्पित वक्ष की भाँति उसका नन्हा कोमल हृदय भी डोल रहा है। विषाद कुछ गहरा होता जा रहा है। पत्र में लिखा है निखिल ने—

"मीनाक्षी, युद्ध तेजी से चल रहा है। गोलों और जहरीली गैसों से नगर ध्वस्त हो रहे हैं। विपक्षी दल बलवान् है।—गोलों से धरती काँपती है—डगमग-डगमग! सैकड़ों निर्दोष बच्चे मृत्यु की गोद में जा रहे हैं। दिन-रात मौत सिर पर नाचती रहती है। भयानक चीत्कारें। और जीवन भी तो एक युद्ध ही है मीना!..." वह और आगे नहीं पढ़ सकी। एक विरह नारी को इस प्रकार एकान्त में छोड़ जाना···।··· आहत सैनिकों की मरहम पट्टी—कैसा घृणित, नीच और क्षुद्र कार्य है! उसने युद्ध-सम्बन्धी एक कहानी पढ़ी थी।

साइबेरिया का विस्तृत प्रदेश; जङ्गली हिंसक जन्तुओं का स्वच्छन्द विचरण। घना गहरा कुहरा पड़ रहा है, भयानक शीत है। बरफ का गिरना। सैनिक पड़े हैं। शत्रुओं के आक्रमण हो रहे हैं। और,

धाँय, धाँय—तोपों की करुण भयानक चीत्कार।

सन्, सन्, सन्—गोलियों की वर्षा।

आह! आह!!—आहत सैनिकों के अन्तिम शब्द।

रणोन्माद। क्रान्ति की ज्वालामुखी का विस्फोट।

कोमल प्रकृति की मीनाक्षी रात्रि के घोर अन्धकार को देख, युद्ध-स्थल की कल्पना कर, मूर्च्छित-सी हो कोच पर गिर

पड़ी ! अस्त-व्यस्त वस्त्र थे उसके, शरीर शिथिल !—आँसू थमते ही न थे ! आया बोली—"रानी बेटी, रानी बेटी ?"

कोई उत्तर नहीं। वह संज्ञाहीन जो थी। मीनाक्षी, उस समय, वहाँ अपने बँगले में न थी। थी वहाँ, जहाँ निखिल के मन-प्राण केवल मीनाक्षी को ही देख रहे थे; जहाँ उसके नेत्र मीना के चित्र का ही सौन्दर्य-पान कर रहे थे।

आया अवाक्, निस्तब्ध ! हृदय काँप रहा था उसका—"ऐं, यह क्या हुआ ? हाथ पकड़ कर हिलाया रानी ? मीना बेटी ?"

"........."

और दूसरे दिन, कुछ समय के लिए, वह स्वस्थ हुई। थोड़ी देर कोच पर, अन्यमनस्कता के साथ, सोचती-सी बैठी रही। उस प्रगल्भ तारल्य को वह भुला न सकी।...तो क्या उन्हें मेरी अपेक्षा नौकरी, आहत व्यक्तियों की सेवा-शुश्रूषा अधिक प्रिय है ?—मैं किस आहत से कम हूँ ?—और उन्हें मेरे सम्बन्ध में कुछ सोचने-लिखने का भी अवकाश नहीं ? ...पत्र में, अन्त में, लिखा है—"...और जीवन भी तो एक युद्ध है, मीना...?"

मङ्गल कामना करने लगी—"ईश्वर तू उन्हें जीवनयुद्ध में विजय दे। मेरे देवता को कुशलतापूर्वक मुझे वापस कर दे।"

वह सारा दिन व्यर्थ चला गया।

तीसरे दिन समाचार पत्र में पढ़ा:—

"युद्ध तीव्र गति के साथ चल रहा है। लहू की नदियाँ बह रही हैं।···चीनी सैनिकों ने वीरतापूर्वक आक्रमण का सामना किया···लगभग पैंतीस सौ सैनिकों ने चीन के लिए हँसते-हँसते अपने प्राण न्योछावर कर दिये।···डॉक्टर निखिल भयानक स्थलों का दौरा कर रहे हैं···उनकी सेवाएँ स्तुत्य हैं।"

"उनकी सेवाएँ स्तुत्य हैं ?"—मीनाक्षी अपने आप में बड़बड़ाई।

इधर प्रायः कई दिन व्यतीत हो गये और उनकी चिट्ठी नहीं आई—शायद व्यस्त हों। परन्तु चलते समय, जहाज से उन्होंने कहा था—"विदा, मीना"—और मलिन, करुण हास्य उनके मुख पर मुद्रित हो गया था, जैसे उनकी अन्तरात्मा उस मुद्रा के बीच से बोल रही थी—"यद्यपि मैं जाना नहीं चाहता मीना, तथापि कर्तव्य-पालन···"

मीनाक्षी उत्तर में बिहँस पड़ी थी। रेशमी रूमाल हिलाते हुए उसने बेमन कहा था—"अच्छा, जाते हो ? जाओ। विदा !!"

और वह तब तक डेक पर खड़ी रही, जब तक जहाज और निखिल का हिलता हुआ रूमाल अदृश्य के गर्भ में विलीन नहीं हो गये।

शोफर ने कहा—"जहाज अब नहीं दिखाई देता मेम साहब; चलिए, कार तैयार है।"

रास्ते भर उसका जी मितलाता रहा। कैसा क्षीर-फेन हो रहा था उसके भीतर—कितनी पीड़ा घनीभूत हो, उसके नेत्रों में घुमड़ आई थी, इसे कौन जाने ?

तब, उसके पश्चात्, दो दिन तक परेशान रही वह: अस्थिर रहा उसका चित्त ! क्लब नहीं गई, मालती से मिलना भूल गई, पुष्पों को चुन-चुन कर अपनी केश-गुच्छिकाओं में कलापूर्ण ढङ्ग से लगाना जैसे उसे काटने सा लगा। 'पिक-निक' में सम्मिलित होने से उसे घृणा हो गई।

स्वप्न न था वह—बात सच और ठीक थी। मेरे आक-स्मिक आगमन ने मीनाक्षी को जैसे अधीर कर दिया हो। उसे न जाने कैसा होने लगता था। पीड़ा होती, अशान्ति बढ़ती और आँखें भीग जातीं। मैं सोचता—कैसे सान्त्वना दूँ इसे ? ऐसा प्रतीत होता था, रो-रो कर मर जायगी वह !

सन्ध्या समय ड्राइङ्गरूम में मुझे भोजन करा रही थी। अत्यन्त गम्भीर थी। मैंने देखा कि उसके सुमन-शोभन मुख पर विषाद की घटाएँ छाई हुई हैं। कातर और द्रवित-सी वह ध्यानपूर्वक मुझे देख रही थी। लगा—मेरे अन्दर मानो कुछ अपना खोया······काले बादलों के टुकड़े इधर-उधर घूम रहे थे—मस्ताने से।···मीना अब भी मुझे पहले जैसी अच्छी लगती है और मैं उसे अपने से भिन्न ही कब समझता रहा हूँ ? अब भी वह मुझे अपने निकट पाती है। बचपन की बातें घटनाएँ, लड़ना-झगड़ना और फिर मैत्री स्थापित करने वाली

चेष्टाएँ जीवन-पर्यन्त मानवात्मा के एकान्तक्रोड़ में दबी, सोई पड़ी रहती हैं। समय आने पर सजग हो उठती हैं। चेष्टा करने पर भी वे छिपा कर रक्खी नहीं जा सकती हैं।

पिछली रात को मुझे ऐसा प्रतीत हुआ था, मीनाक्षी रो रही है। इस समय आज देखता हूँ—पलकें सूज गईं हैं। उन पर ललाई की आभा स्पष्टतया लक्षित है। उसके शान्त संकुल हृदय को स्मृतियों ने आन्दोलित कर रक्खा है। रो-रो कर आँखें खराब कर लेना उसकी अपनी दिनचर्या हो गयी है।

"और कुछ लीजिए।"—कोमल वाणी में बोली।

"बहुत कुछ पा चुका हूँ, मीना।"

तब वह अन्दर गई। मिष्ठान्न की प्लेट ला मेरे आगे बढ़ा दिया। आग्रह को टालना उस पर आघात करना था। प्रस्ताव स्वीकार करना पड़ा। परन्तु उस क्षण, मेरे हृदय में बार-बार एक बात चक्कर लगा रही थी—मीना आखिर तुम इतनी व्यथा-निमज्जित क्यों हो ?

कारण कुछ भी हो, मैं नहीं समझ सका था।

× × ×

लोमहर्षण युद्ध चलता रहा। एक दिन मीना ने सम्वाद-पत्र में पढ़ा—"रेडक्रास सोसाइटी के कैम्प में भीषण बम का धड़ाका। कई व्यक्ति घायल हुए। तीन व्यक्ति जान से मारे गये।"

वह चौंक पड़ी। उसे ऐसा मालूम हुआ—पृथ्वी घूम गई

है। दौड़ी-दौड़ी आया के निकट आ बोली—"बिलासी !"

"क्या है बेटी ?"

और वह कुछ भी न कह सकी। फूट-फूट कर रोने लगी।

आया ने पानी से मुख-प्रक्षालन किया; परन्तु वह प्रायः दो घण्टे तक बेहोश पड़ी रही।

अभी-अभी उस भोली लड़की का ब्याह होकर आया है। उसने बहुत-सी आकांक्षाएँ छिपा रक्खी हैं, अपने अन्दर। अभी—सच तो यह है—वह अपने इस स्वामी को समझ भी नहीं सकी है। वह स्वामी को उसके यथार्थ और सत्य अर्थ में समझ ही कब सकी है ? वह इतना ही कह सकती है—'स्वामी स्वप्न है।'

तार आया है, सरकारी दफ्तर से—"डाक्टर निखिलचन्द्र चक्रवर्ती बम से घायल होकर मर गये। उनके परिवार को प्रति मास तीन सौ रुपये गुजारे के लिए, सरकार देती रहेगी।"

× × ×

और आज ठीक वैसी ही सावन की वर्षा अँधेरी रात है। झमाझम मूसलाधार वर्षा। सन्नाटा। अथाह शान्ति-सागर में डूबी किशोरी लखनऊ-नगरी। उत्तर दिशा की ओर पावन गोमती का गम्भीर प्रवाह। और मीनाक्षी जैसी कोमल नारी खिड़की से देख रही है—अन्धकार, बाहर-भीतर और चहुँ ओर अन्धकार। उसका वक्ष काँप रहा है। अन्धकार के अतिरिक्त उसे और कुछ भी दृष्टिगोचर नहीं हो रहा है।